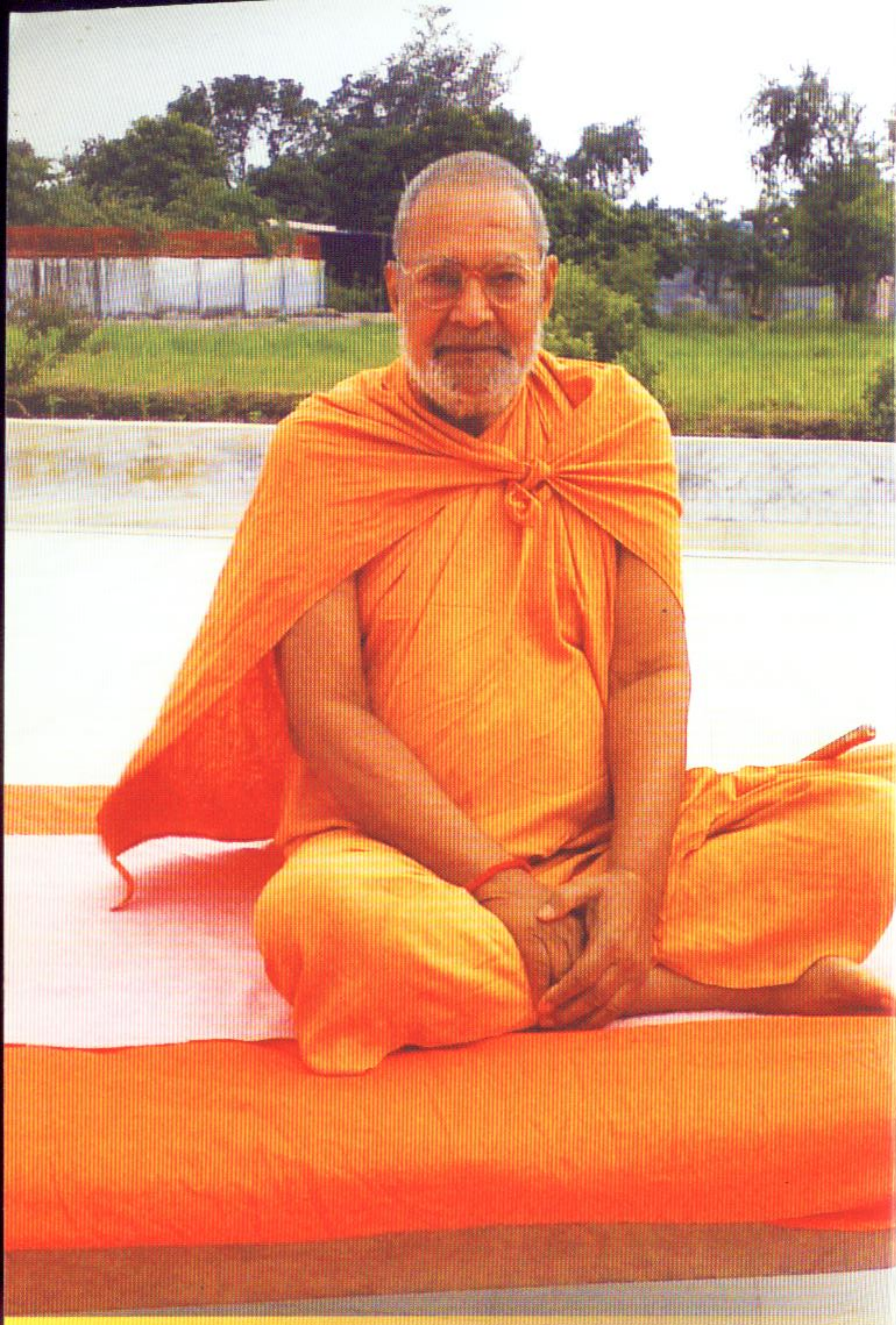
प्रश्नोत्तर दीपमाला





स्वामी रामानन्दजी सरस्वती



प्रश्नोत्तरदीपमाला

भाग - २

आश्चर्योवक्ता कुशलोऽस्य लब्धा ।
आश्चर्योज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।
(कठोपनिषद्-१.२.७)

-'इस आत्मतत्त्व का उपदेश करनेवाला आचार्य आश्चर्यरूप (दुर्लभ) है, कोई अत्यन्त निपुण शिष्य ही इसे प्राप्त कर सकता है। किसी कुशल आचार्य से उपदेश प्राप्त किया हुआ इस आत्मतत्त्व का ज्ञाता पुरुष भी आश्चर्यरूप अर्थात् अत्यन्त दुर्लभ है।

श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम,
पो. ओंकारेश्वर - ४५० ५५४

प्रकाशक : मार्कण्डेय संन्यास आश्रम पब्लिक ट्रस्ट,
ओंकारेश्वर

प्रथम संस्करण : १९ सितम्बर, २०११
आश्विन कृ. सप्तमी.वि.सं.२०६८
महाराजश्री की तृतीय पुण्यतिथि

प्रतियाँ : २,000 (दो हजार)

प्रधान सम्पादक : स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती
सम्पादक मण्डल : स्वामी आशुतोष भारती
ब्र. किशोर चैतन्य
स्वामी उरुक्रमानन्द पुरी

पुस्तक प्राप्ति स्थान
मार्कण्डेय संन्यास आश्रम पो. ओंकारेश्वर-450 554
जिला : खण्डवा (म.प्र.)
फोन नं. : 07280-271267, 9827813711, 9425939567

सहयोग राशि : 50/- रुपये

मुद्रक : प्रिंट पेक प्रा.लि., इन्दौर

विभिन्न आश्रम

परम पूज्य सद्गुरुदेव ब्रह्मलीन स्वामी अभयानन्दजी सरस्वती महाराज तथा परम पूज्य सद्गुरुदेव ब्रह्मलीन स्वामी रामानन्दजी सरस्वती महाराज के द्वारा स्थापित एवं पूज्य स्वामी प्रणवानन्दजी सरस्वती महाराज के संरक्षण में संचालित आश्रमों का विवरण :-

१. **श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम**
ओंकारेश्वर, मान्धाता, पूर्वी निमाड़-खण्डवा-४५०५५४ (म.प्र.)
फोन. नं. ०७२८०-२७१२६७, मो.- ९४२५९३९५६७

२. **अभय कैलाश आश्रम,**
बाराबंकी (उ.प्र.)
फोन नं. ०५२४८-२२४८९८, ०९४५४६६८६६८

३. **श्री अभय संन्यास आश्रम,**
वनकुटी, बंकी, बाराबंकी (उ.प्र.) मो.- ९३६९४७९३५५

४. **श्री अभय संन्यास आश्रम**
सी.के.८/१२, गढ़वासी टोला
वाराणसी, २२१००१ (उ.प्र.) मो.- ०९९८४७४१४९४

५. **श्री अभय साधना कुटीर (ओंकारेश्वर महादेव)**
मु.पो. केरपानी, तहसील. करेली
नरसिंहपुर, मध्यप्रदेश-४८७००१, फोन नं. ०७७९३-२७८५५५

६. श्री तुरीय आश्रम, माई की बगिया,
अमरकण्टक,जिला : अनूपपुर-(म.प्र.) - ४८४८८६
मो.- ०९४२४३५३२९३

७. श्री अभयधाम
नटवा जंगी रोड, अभय तिराहा, मिर्जापुर (उ.प्र.) - २३१००१
मो.- ०९८९७१२१८४६

८. श्रीराम कुटी आश्रम, रामगढ़, जिलाः खरगोन (म.प्र.)
मो - ९००९३९५४८५

९. विरक्त कुटी
राजघाट, जिलाः बुलन्दशहर (उ.प्र.) मो.- ०९७२०८९०८४५

१०. अभयराम संन्यास आश्रम, ग्रा + पो. - डोलवी, ता. - पेण
जि. - रायगढ़ - ४०२ १०७ (महाराष्ट्र)
मो.- ०९९२२२२४९७३

११. अभयभक्तिराम आश्रम, लक्ष्मीनारायण मन्दिर, कटघड़ा
जिला - खरगोन (म.प्र.) मो. - ०९८२६५३८६६९

श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम
एक अल्प परिचय

ब्रह्मलीन परमपूज्य स्वामी रामानन्द सरस्वतीजी महाराज के द्वारा नर्मदा तट पर पवित्र ओंकारेश्वर क्षेत्र में स्थापित श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम भारतवर्ष के प्रतिष्ठित आश्रमों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस आश्रम की स्थापना की कहानी भी विलक्षण ही है। सन् १९६२ में पूज्य महाराजश्री एक ब्रह्मचारी के रूप में नर्मदा-तट पर परिव्रजन करते हुए ओंकारेश्वर तीर्थ में पहुँचे। वर्तमान में जहाँ आश्रम स्थापित है, उस स्थान के निकट ही एक अर्जुन वृक्ष के नीचे रहकर उन्होंने तीन माह का समय गहन साधना में व्यतीत किया।

इसके पश्चात् वे माँ नर्मदा को प्रणाम कर आगे भ्रमण के लिए चल दिए।परन्तु इस स्थान के शान्त, एकान्त और पवित्र वातावरण ने उनके मन को कुछ ऐसा आकर्षित कर लिया कि सन् १९६५ में वे पुनः साधना की दृष्टि से यहीं लौट आए। इस बार उनके अभिन्न सखा पूज्य स्वामी कृष्णानन्दजी 'विरक्त' भी उनके साथ थे। दोनों विभूतियों ने एक कच्ची कुटिया बनाकर लगभग छह मास तपश्चर्यापूर्वक इस स्थान पर निवास किया। तत्पश्चात् उन दोनों ने प्रयाग कुम्भ में भाग लेने के लिए प्रस्थान किया। प्रयाग में जब महाराजश्री ने अपने गुरुदेव ब्रह्मलीन परमपूज्य स्वामी श्री अभयानन्दजी को अपने रेवातट-निवास के विषय में बताया तो उनके मन में भी ओंकारेश्वर-दर्शन का भाव स्फुरित हो गया। अतः महाराजश्री ओंकारेश्वर पहुँचकर गुरुदेव के लिए कुटिया के निर्माण में जुट गए।

कुछ समय पश्चात् पूज्य गुरुदेव पधारे और इस स्थान की नीरवता से आकर्षित होकर तीन वर्ष तक कहीं गए ही नहीं। उनके यहाँ रहने से विरक्त सन्त एवं गृहस्थ भक्त भी आने लगे। उस समय ओंकारेश्वर क्षेत्र में

अभ्यागत महात्माओं के लिए भिक्षा आदि की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। इस समस्या को देखकर करुणहृदय गुरुदेव के मन में ऐसा संकल्प आया कि यहाँ अभ्यागत सन्तों के निवास और भिक्षार्थ कोई स्थायी व्यवस्था बने तो अच्छा हो। अपने गुरुदेव के इस संकल्प को पूर्ण करने के लिए ही महाराजश्री ने इस आश्रम के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया।

आश्रम के प्रारम्भिक वर्षों में महाराजश्री ने सन्तों के साथ मिलकर निर्माण-कार्य में अथक परिश्रम किया। सन्तों के परिश्रमरूपी नींव पर खड़े होने के कारण आज भी इस आश्रम के वातावरण में एक सात्त्विक पवित्रता का अनुभव सभी को होता है। धीरे-धीरे आश्रम में गोशाला, श्री अभयेश्वर महादेव मन्दिर एवं भगवान् भाष्यकार मन्दिर की स्थापना हुई। वाटिका, सन्त-निवास, सत्सङ्ग-भवन एवं भक्त-निवास का भी निर्माण हुआ। तीर्थ-यात्रियों को नर्मदा स्नान आदि की सुविधा उपलब्ध कराने की दृष्टि से एक विशाल **'अभयघाट'** का निर्माण भी कुछ वर्ष पूर्व आश्रम के श्रद्धालु भक्तों द्वारा कराया गया।

पूज्य महाराजश्री शांकर-वेदान्त तथा आगमशास्त्र के मूर्धन्य एवं अनुभवी विद्वान् थे। **स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्** - इस श्रुति को जीवन में आत्मसात् करते हुए उन्होंने यहाँ रहकर मुमुक्षुओं के कल्याणार्थ मुक्तहस्त से अपनी ज्ञान-सम्पदा का वितरण किया। श्रीमद्भगवद्गीता, दशोपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र - इस प्रस्थानत्रयी का शांकरभाष्य आत्मज्ञान-प्राप्ति का मूल आधार है। **संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्** - इस श्रुति के आदेशानुसार परमहंस संन्यासी सम्प्रदाय में तो इसका स्वाध्याय अनिवार्य ही है। महाराजश्री इस प्रस्थानत्रयी का विवेचनापूर्ण स्वाध्याय जिज्ञासुओं के हितार्थ वर्षों तक अनवरतरूप से कराते रहे। उनके द्वारा पोषित इस शांकरी परम्परा को उनके सुयोग्य शिष्य स्वामी प्रणवानन्द सरस्वतीजी पूर्ण निष्ठा से आगे बढ़ा रहे हैं। देश के कोने-कोने से विरक्त एवं गृहस्थ सभी प्रकार के जिज्ञासु

साधक यहाँ आकर अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करते हैं। यहाँ से लब्धज्ञान अनेक सन्त समाज में धर्म तथा ज्ञान का प्रचार कर सनातन धर्म के रक्षण में सहयोग दे रहे हैं। आश्रम में जिज्ञासुओं के उपकारार्थ एक विशाल पुस्तकालय की भी व्यवस्था है।

आश्रमस्थ गोशाला, वाटिका, मन्दिर, पाकशाला, धर्मार्थ चिकित्सालय आदि प्रकल्पों में अनेक प्रकार की सेवा प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं, जिनमें सहयोग करके कोई भी साधक निष्काम कर्मयोग के अनुष्ठान का सुन्दर अवसर प्राप्त कर सकता है। आश्रम के मन्दिरों में प्रातः एवं सायंकाल आरती-पूजन एवं सामूहिक स्तोत्रपाठ नियमित रूप से होते हैं। साथ ही साथ माँ नर्मदा के हर-हर निनाद से गुञ्जित आश्रम का शान्त वातावरण साधकों के भजन-ध्यान में उत्प्रेरक सहयोगी की भूमिका बखूबी निभाता है। इस आश्रम को देखकर वैदिक-ऋषिपरम्परा के आश्रमों की स्मृति सजीव हो उठती है। यहाँ ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोगरूपी तीन धाराओं की त्रिवेणी सतत प्रवाहमान है, जिसमें अवगाहन करके मुमुक्षु साधक सहज रूप से अपने कल्याण का सम्पादन कर सकते हैं।

*****

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ
१.	कर्म और गति	१२
२.	भक्ति-उपासना	२३
३.	ज्ञान-चर्चा	४८
४.	वेदान्त	६५
५.	मन्त्र-विचार	९०
६.	साधकचर्या	९८
७.	साधना	११४
८.	गुरुतत्त्व	१४४
९.	ईश्वरतत्त्व	१५१
१०.	सन्त तथा सत्सङ्ग	१६३
११.	शरणागति	१७५
१२.	योग एवं ध्यान	१८०
१३.	दोष-विचार एवं निवारण	१८९
१४.	धर्म-जिज्ञासा	१९९
१५.	देवपूजन-कर्मकाण्ड	२०८
१६.	प्रारब्ध, पुण्य-पाप, संस्कार	२१५
१७.	तीर्थ-महिमा	२२६
१८.	व्रत एवं पर्व	२२७
१९.	शास्त्र-समीक्षा	२३०
२०.	संन्यास	२३८
२१.	सुख-दुःख	२४४
२२.	ज्ञानी की स्थिति	२४९
२३.	लोकव्यवहार	२५६
२४.	विविध	२६२

प्राक्कथन

दुःखों का नितान्त परिहार तथा अविच्छिन्न आनन्द की प्राप्ति मानवमात्र का लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति के साधन वेदविहित साधनाएँ हैं। वैदिक सनातन संस्कृति से अनुप्राणित साधनाएँ अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक साधक को उसके लक्ष्य तक पहुँचाती हैं, यदि साधक उन साधनाओं को दीर्घकाल, अनवरतता तथा श्रद्धाभावरूप सम्पदा से युक्त होकर करता रहे। यद्यपि लक्ष्य आत्मा है पर साधना की परिणति तो मन के समाधान-एकाग्रता में ही है। कहा भी गया है –

सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः।
परो हि योगो मनसः समाधिः॥

अर्थात् सभी साधनाएँ मनोनिग्रह तक हैं और मन के निग्रह से परम ज्ञान का उदय होता है। परन्तु पूर्वोपार्जित कर्म, विषयासक्ति एवं अनेक प्रकार की प्रतिबन्धकताओं से प्रतिबद्ध होकर यह प्राणी दुःखों के दलदल में आकण्ठ डूबा हुआ है। फलतः संसार-सागर में गोते लगाने को विवश है। जब पूर्वोपार्जित पुण्यप्रचयों के उद्भव से निष्काम कर्म, उपासना तथा प्राणायाम आदि साधनाओं का सम्पादन करता है तो इसका मन शनैः शनैः निर्मल तथा निश्चल होने लगता है। मुमुक्षादि सम्पत्ति जीवन का अङ्ग बनती है। उसकी साधना स्वाभाविक ही होती रहती है, करने की जरूरत नहीं होती जैसे, असाधक या सामान्य साधकों में मनोराज्य का होना। ऐसा साधक निश्चित ही अविनाशी-अनन्त-अखण्ड-परमपद का अधिकारी होता है।

ऐसे परमपद, ब्रह्मलोक, स्वर्ग एवं उनकी प्राप्ति के शास्त्रैकगम्य साधनों को सुनकर अधिकारी व्यक्तियों को स्वाभाविक ही उनके विषयों में

जिज्ञासाएँ होती हैं कि हम भी उन विषयों को जानें तथा प्राप्त करें। ऐसे ही जिज्ञासुओं की जिज्ञासाओं के समाधानों का यह शब्दसमूह है जो समय-समय पर पूज्य महाराजश्री के श्रीमुख से निःसृत हुआ है। पूज्य गुरुदेव के मुखारविन्द से समुद्भूत समाधानों के संग्रह को ही पुस्तक का आकार दिया गया है। इससे पूर्व प्रश्नोत्तरदीपमाला (भाग-१) हम जिज्ञासुओं को सौंप चुके हैं। उसी श्रृंखला का यह द्वितीय भाग है।

स्थान एवं साधकों के भेद से जिज्ञासाएँ कभी-कभी भिन्न-भिन्न होती रही हैं तो कभी-कभी एक ही प्रकार की। जो जिज्ञासाएँ भिन्न-भिन्न थीं उनके विषय में तो कोई विशेष समस्या नहीं थी, परन्तु अलग-अलग स्थान एवं काल में की गईं साधकों की कई जिज्ञासाएँ एक-जैसी होने से पुनरुक्ति का बाहुल्य था। उसे ठीक करना तथा प्रश्नोत्तदीपमाला (भाग-१) से पुनरुक्ति न हो, इसका भी विशेष ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक था। सम्पादकवर्ग ने इस बात पर यथासम्भव ध्यान दिया है। साथ ही यत्र-तत्र बिखरे समानविषयक जिज्ञासाओं को एक जगह संकलित करके पुस्तक की शोभा बनाने का प्रयास भी किया है।

रामकृष्ण मिशन के स्वामी उरुक्रमानन्दजी ने इस पुस्तक के प्रकाशन में कम्प्यूटर पर टाइपिंग एवं कम्पोजिंग का महत्वपूर्ण कार्य बड़ी जिम्मेदारी से निभाया। महाराजश्री, उनके साहित्य तथा हम लोगों के प्रति उनकी श्रद्धा एवं सौहार्द अमूल्य है। स्वामी आशुतोषजी भारती तथा ब्र. किशोर चैतन्यजी की सम्पादन कुशलता आप पूर्व प्रकरण में भी देख चुके हैं। घण्टों तक प्रूफ-संशोधन का जटिल कार्य सचमुच पूज्यश्री तथा उनकी वाणी के प्रति सच्चे समर्पण के बिना नहीं हो सकता। ये तीनों ही साधक पूज्यश्री के साहित्य-सम्पादन-सागर के मल्लाह हैं। पूरी निष्ठा के साथ सम्पादन करने पर भी कुछ त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक है। हालाँकि पूर्ण प्रयास किया गया है कि त्रुटि न रहने पाए, इसमें कितनी सफलता मिल पाई इसका विज्ञ पाठक ही

निर्णय करेंगे।

पूज्यश्री से विनम्र प्रार्थना है कि सम्पादक साधकों का पारिश्रमिक आपके चरणों की सुदृढ़ भक्ति हो ताकि भविष्य में भी वे आपकी पवित्र वाणियों को साधक-समुदाय तक पहुँचाने एवं उनकी आध्यात्मिक पिपासा की निवृत्ति करने में हेतु बनते रहें।

इत्यों शम्

१९ सितम्बर, २०११ — गुरुचरणानुरागी,

आश्विन कृ. सप्तमी, वि.सं. २०६८ — **स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती**

महाराजश्री की तृतीय पुण्यतिथि — ओंकारेश्वर

कर्म सिद्धान्त और गति-विचार

जिज्ञासा :- व्यक्ति कर्तव्य समझकर किसी कार्य में लगता है परन्तु करने का अभिमान आ जाता है। इससे कैसे बचें?

समाधान :- अभिमानरहित होकर कर्तव्य कर्म करने का एक यही उपाय है कि अपने कर्म को परमेश्वर से जोड़कर उसकी उपासनारूप से कर्म करे।

*****

जिज्ञासा :- जो साधक सांख्य और योगदर्शन के अनुसार गम्भीरता से साधना करते हैं उन्हें मोक्षप्राप्ति होती है या नहीं?

समाधान :- इन दर्शनों की दृष्टि से तो उनका मोक्ष हो ही जाता है। जैसे कर्म का फल क्षीण हो जाता है, उस प्रकार से सांख्य-साधना से प्राप्त स्थिति का क्षय नहीं होता। उनके दर्शन के अनुसार पुरुष (जीव) वास्तव में असङ्ग है, परन्तु अज्ञानवश उसका प्रकृति से सङ्ग हो जाता है। पुरुष है तो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव, परन्तु प्रकृति के सङ्ग से उसे जन्म-मरण की प्रतीति होती है। जो पुरुष अपने को प्रकृति से अलग करके नहीं जानता, उसके लिए प्रकृति भोग देती रहती है। जब सांख्य-प्रक्रिया के अनुसार विचार करते-करते पुरुष-प्रकृति के भेद का पक्का विवेक (विवेकख्याति) हो जाएगा, तब प्रकृति उस पुरुष को भोग देना बन्द कर देगी। ऐसा पुरुष मुक्त हो जाता है, उसका फिर जन्म नहीं होता।

उनके ऐसा मानने पर भी जो वेदप्रतिपाद्य मोक्ष है वह उनको प्राप्त नहीं होगा। उनके सिद्धान्त के अनुसार पुरुष अनेक हैं, प्रकृति सत्य है। योगदर्शन के अनुसार ईश्वर भी पुरुषविशेष है और वह प्रकृति तथा जीवों से भिन्न है। इसलिए विवेकख्याति होने के बाद भी जगत् का सत्यत्व, जीवों का अनेकत्व और भेदबुद्धि बनी ही रहेगी। जबकि वेद तो स्पष्ट कहता है – **द्वितीयाद् वै भयं भवति** (बृह. उप-१.४.२)। जब तक हमें दूसरे की प्रतीति

हो रही है, भेददर्शन हो रहा है तब तक भय का नाश नहीं होगा, तो फिर मोक्ष कैसे होगा! द्वितीय दर्शन ही सारे अनर्थों का हेतु है। सांख्य और योग के साधकों के लिए न तो प्रकृति का सत्यत्व बाधित होता है और न ही अनेकत्व और भेद का बाध हो पाता है। इसलिए वेदप्रतिपाद्य मोक्ष की प्राप्ति उन्हें नहीं हो सकती।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में कहीं पर तो आता है कि ब्रह्मलोक से पुनरावर्तन नहीं होता और कहीं-कहीं लिखा है कि ब्रह्मलोक से भी लौटना पड़ता है। इसमें कौन-सा पक्ष ठीक है?

समाधान :- पुराणों आदि में स्वर्गलोक के ऊपर महः, जनः, तपः, सत्यम् - इन चार लोकों का वर्णन आता है। पर वेदों में केवल ब्रह्मलोक को ही कहा गया है, इससे लगता है कि इन चारों का ब्रह्मलोक में ही अन्तर्भाव है। कई विद्वानों का मत है कि जो उपासक ब्रह्मलोक के सत्यलोक भाग में पहुँच जाता है उसका फिर पुनरावर्तन नहीं होता। जिन उपासकों की उपासना में कुछ कमी होने के कारण वे महः, जनः अथवा तपः लोकों को प्राप्त करते हैं, उन्हें फलभोग के बाद वहाँ से मर्त्यलोक में लौटना पड़ता है। यही इस विरोध का समाधान है।

*****

जिज्ञासा :- सबकी आयु तो प्रारब्ध के अनुसार निर्धारित है, इसलिए मृत्यु तो समय पर ही होगी, फिर अकालमृत्यु क्या है? अकालमृत्यु को प्राप्त जीव की क्या गति होती है?

समाधान :- जीव कर्म करता है और काल कर्मों को पकाता है। जैसे वर्षा ऋतु में सभी बीज नहीं उगते, जिनका काल आ गया वही उगते हैं। कुछ निश्चित कर्मों के अनुसार यह मनुष्य शरीर मिलता है। इस शरीर में फिर कर्म करता है और समय पूरा होने पर शरीर छूटता है। मृत्यु के समय इन्द्रियों की शक्ति मन में लीन हो जाती हैं, मन प्राण में लीन हो जाता है। शास्त्रों में

इसे मृत्युमूर्च्छा कहते हैं। उस समय इस जन्म के और पूर्व के सञ्चित सभी कर्म उसके सामने आते हैं और इनमें से जो फलोन्मुख हैं, वे टिक जाते हैं। उन कर्मों के अनुसार अगले शरीर का निर्धारण होकर मन उसे अहंतया पकड़ लेता है, फिर यह शरीर छूट जाता है।

यह एक सामान्य व्यवस्था है। यदि कोई व्यक्ति दुर्घटना या हृदयाघात आदि में झट से मर जाता है तो इसे ही **अकाल मृत्यु या अपमृत्यु कहते हैं।** ऐसी मृत्यु भी होती तो प्रारब्धानुसार पूर्व निर्धारित ही है, पर ऐसे में जीव सावधान नहीं हो पाता, इसलिए उस व्यक्ति की यह प्रक्रिया नहीं बन पाती जिससे उसे भूत, प्रेत आदि योनियों में जाना पड़ता है। प्रकृति के द्वारा धीरे-धीरे उसकेअगले जन्म की प्रक्रिया बनेगी पर उसमें समय लग जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति की अपमृत्यु हो गई तो उसके उद्धार के लिए कोई शास्त्रीय उपाय करना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- श्रुति का सिद्धान्त है कि जीव को अपने कर्म के अनुसार ही विभिन्न योनियों में जन्म मिलता है। परन्तु रामचरितमानस में एक जगह कहा गया है **कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।।** (उत्तर.-४३.३) यहाँ पर मनुष्य शरीर प्राप्ति में ईश्वर की कृपा को हेतु माना है। इस विरोधाभास का निवारण कैसे हो?

समाधान :- जन्म कर्म के अनुसार ही मिलता है, यह बात एकदम ठीक है। परन्तु मानस आदि ग्रन्थों में जो बात कही गयी है उसका तात्पर्य यही है कि मनुष्य शरीर का प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। पशु-पक्षी, कृमि-कीट आदि बहुत-सी योनियाँ हैं जिनका कोई अन्त नहीं है। उनमें से मनुष्य शरीर मिल जाना दुर्लभ ही है। मानस में जो ईशकृपा की बात कही गई है वह दुर्लभता का ही प्रतिपादन है।

*****

जिज्ञासा :- सेवा तो अभिमान मिटाने के लिए की जाती है, परन्तु कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि सेवा से ही एक सूक्ष्म अभिमान आ जाता है। इससे बचने का उपाय क्या है?

समाधान :- जो साधक सावधान रहेगा, अपनी सेवा को गुरु और परमेश्वर से जोड़ देगा, उसमें अहंकार नहीं आएगा। परमेश्वर की कृपा से, उसकी शक्ति से सेवा हो रही है और परमेश्वर के लिए हो रही है यह भावना रहेगी तो अभिमान नहीं होगा। यह समस्या सेबा में ही नहीं है सभी जगह है। व्यक्ति असावधान रहे तो ज्ञान का भी अभिमान हो जाता है। इसलिए व्यक्ति को विचार करना चाहिए कि जो भी सेबा हम कर रहे हैं, ईश्वर की शक्ति से ही कर पा रहे हैं, इसका अहंकार क्यों करें! यदि हम अभिमान करेंगे तो हम साधन मार्ग से गिर जाएँगे, हमारी सेवा, सेवा ही नहीं रहेगी। इस प्रकार से विचार करे तो व्यक्ति अभिमान से बच सकता है।

अपने को कमजोर समझो तो परमेश्वर के चरणों में अपनी सेवा को अर्पण करो, कहो कि आपने कृपा करके जो सेवा का अवसर दिया उसे मैं इस प्रकार से कर पाया हूँ, इसमें कभी-कभी अहंकार हो जाता है उसे आप कृपा करके मिटा दें। इस प्रकार से अपनी सेवा को परमेश्वर से जोड़नेवाला ही अहंकार से बच सकता है।

कोई कहे कि सेवा करने में अहंकार हो जाता है, इसलिए सेवा ही बन्द कर दें - यह तो कोई समाधान नहीं है। जब अहंकार का क्षेत्र ही आपके पास नहीं रहेगा तो उसे मारेंगे कैसे! सेवा करके ही उसे मार सकते हैं। आपका पूर्ण समर्पण जब ईश्वर-चरणों में हो जाएगा तब अहंकार मर जाएगा।

*****

जिज्ञासा :- क्या जीव का जन्म-मरण निश्चित है या वह अपनी इच्छानुसार इसे बदल सकता है?

समाधान :- जीव का जन्म-मरण निश्चित है। परन्तु यदि कोई

अत्यधिक पुरुषार्थ करे तो उसे बदला भी जा सकता है, मात्र इच्छा से नहीं। जैसे जनता के द्वारा कोई चुनी हुई सरकार पाँच वर्ष तक चलती है, यह निश्चित है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक वर्ष में ही फिर से चुनाव हो जाते हैं। मार्कण्डेयजी की आयु स्वयं भगवान् शिव ने बारह वर्ष की निश्चित की, परन्तु अत्यधिक पुरुषार्थ के बल से वे अमर हो गए। अतः नियम अपनी जगह पर हैं और पुरुषार्थ अपनी जगह पर।

*****

जिज्ञासा :- क्या पौरुषप्रयत्न करके मृत्यु टाली जा सकती है? यदि ऐसा सम्भव है तो ज्योतिष शास्त्र का क्या महत्व हुआ, जिसमें मृत्यु को पूर्वनिर्धारित माना जाता है?

समाधान :- ज्योतिष शास्त्र की यह बात भी सत्य है कि मृत्यु पूर्वनिर्धारित होती है और पौरुषप्रयत्न से मृत्यु को टाला जा सकता है, यह बात भी सत्य है क्योंकि ज्योतिष शास्त्र द्वारा किसी की कुण्डली में एक निश्चित समय पर मृत्यु बताकर उसको टालने का प्रायश्चित्त बताया जाता है। यदि मृत्यु को टालना असम्भव होता तो प्रायश्चित्त भी असम्भव होता। इसी प्रकार गलत मार्ग अपनाकर आयु क्षीण होने के कर्म भी बताए जाते हैं। यहाँ पौरुष प्रयत्न का मतलब उस प्रतिबन्ध से अधिक प्रयत्न समझना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- कई लोग बहुत अधर्म करते हैं, फिर भी भगवान् उनको दण्ड नहीं देता। ऐसा क्यों?

समाधान :- चाहे धर्म हो या अधर्म उसका फल अवश्य मिलता है, पर वह तत्काल मिले, यह आवश्यक नहीं है। उस कर्म की तीव्रता पर निर्भर करता है कि उसका फल कब मिलना है। अधर्म के विषय में कहा है –

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति।।

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति।।

(मनुस्मृति - ४.१७२/१७४)

जीव के द्वारा किया गया अधर्म जैसे गाय चारा खिलाने से तत्काल दूध देती है, इस प्रकार तो फल नहीं देता, पर धीरे-धीरे उसका फल प्रकट होकर कर्ता का समूल नाश कर देता है। पहले तो लगता है कि अधर्म करनेवाला बड़ा वृद्धि (ऐश्वर्य) को प्राप्त होता है, सकुशल दीखता है और शत्रुओं को भी जीतता है, पर अन्त में वह नष्ट ही होता है।

इसलिए अधर्म के विषय में ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि परमात्मा उसके कर्ता को दण्ड नहीं देता है।

*****

जिज्ञासा :- कर्म करते समय उसके फल की इच्छा न रखे तो क्या उसकी योगसंज्ञा हो जाएगी?

समाधान :- कर्मफल की इच्छा न रखते हुए कर्तव्यबुद्धि से किए गए कर्म की भी योगसंज्ञा होती है, पर ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्म करना दूसरी बात है। अतः ईश्वरार्पणबुद्धि से किए गए कर्म को ही श्रेष्ठ कर्मयोग समझना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- ईश्वरार्पणबुद्धि से किए गए कर्म में अर्पण का तात्पर्य कर्म से है या उसके फल से?

समाधान :- सबसे उत्तम तो यही है कि उस कर्म को ही ईश्वरार्पण कर दे, फल का इन्तज़ार क्यों करना! भगवान् ने भी गीता में कहा है –

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। (१२.८)

तुम अपना मन मुझमें रख दो और बुद्धि को भी मुझमें लगा दो। यदि तुम ऐसा करोगे तो निःसंशय मुझे ही प्राप्त करोगे। आगे कहते हैं –

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।। (१२.९)

यदि तुम अपना चित्त मुझमें दृढ़ता से स्थिर नहीं कर सकते तो अभ्यास करके मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो, पर भगवान् यह भी जानते हैं कि ऐसा करना सभी के लिए सम्भव नहीं है। तब आगे कहते हैं –

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।। (१२.११)

यदि तुम अभ्यासयोग करने में भी समर्थ नहीं हो तो कर्म करो और उसका फल संयतचित्त होकर मुझमें अर्पित करो।

अतः कर्मफल ईश्वरार्पण करने की अपेक्षा कर्म ही ईश्वरार्पण हो तो अच्छा है, पर ऐसा न कर सको तो कर्मफल ही ईश्वरार्पण कर देना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- ईश्वरार्थ कर्म करते समय साधक यदि ऐसा सोचे कि यह कर्म करने से भगवान् मुझपर प्रसन्न हों, क्या यह चिन्तन उचित है?

समाधान :- लौकिक वस्तुओं की इच्छा करने की अपेक्षा तो ऐसा चिन्तन ठीक है पर वस्तुतः यह भी उचित नहीं है। भाष्यकार भगवान् तो कहते हैं -

कुरु कर्माणि केवलमीश्वरार्थं तत्रापि ईश्वरो मे तुष्यतु इति सङ्गं त्यक्त्वा
(गीता भाष्य - २.४८)

'ईश्वरार्थ कर्म करो पर **ईश्वर मुझपर प्रसन्न हों** - इस प्रकार की बुद्धि को त्यागकर।' अतः साधक को यह भी नहीं सोचना चाहिए कि मैं ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए कर्म कर रहा हूँ। केवल यह समझ रखे कि मैं ईश्वर का हूँ, इसलिए ईश्वर के लिए कर्म करना मेरा कर्तव्य है।

*****

जिज्ञासा :- मैं पेशे से एक व्याख्याता हूँ, अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हुए भजन-ध्यान कैसे करूँ?

समाधान :- जैसे सब कुछ करते हैं, वैसे ही भजन-ध्यान भी कर सकते हैं। पहले तो यह निश्चय होना चाहिए कि अन्य कार्य करते समय चित्त जितना एकाग्र होता है, उतना भजन में होता है या नहीं। इसके पश्चात् चौबीस घण्टे के काल में एक दिनचर्या बनानी पड़ेगी कि इतने बजे उठना है, इतने बजे से इतने बजे तक नित्यकर्म करना है, ध्यान-भजन करना है, फिर विद्यालय जाना है। इस प्रकार की दिनचर्या दिनभर के लिए नियत होनी चाहिए अर्थात् इसमें किसी प्रकार की शिथिलता नहीं होनी चाहिए।

व्यक्ति यह गलती करता है कि बाकी कार्य के लिए तो समय निकाल लेता है पर भजन-ध्यान के लिए समय निकालना उसको कठिन लगता है। इसका मतलब यह है कि भजन-ध्यान का जीवन में महत्व नहीं है क्योंकि जीवन में जिस कार्य का महत्व होता है उसके लिए व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार से समय निकाल ही लेता है। पर यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति इस सचाई को जानकर इसे स्वीकार करे कि जिस शरीर को माध्यम बनाकर हम कह रहे हैं यह हमारा परिवार है, यह सम्बन्धी है - इस शरीर को बनाया किसने? इसमें श्वासों को कौन चला रहा है? जब यह समझ में आ जाएगा तब विचार करेगा कि कोई एक शक्ति है जो ऐसा कर रही है और वही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को चला रही है। तब समझ में आएगा कि उसी से हमारा सच्चा और स्थायी सम्बन्ध हो सकता है।

परिवार का सम्बन्ध तो कभी भी छूट सकता है क्योंकि शरीर तो चिता पर पड़ा है इसलिए परिवार के साथ सम्बन्ध गौण है। जब यह बात मन में अच्छी प्रकार बैठ जाए तब आगे विचार करे कि उसने यह शरीर बनाकर हमको यह कर्तव्य दिया है। तब आप प्रत्येक कार्य को उसकी सेवा समझकर करेंगे, तो - **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य ... (गीता-१८.४६)**। अपने कर्तव्य

कर्म को करते हुए उसकी आराधना कर लोगे, तब तो अन्तःकरण शुद्ध होने में समय नहीं लगेगा।

इस प्रकार प्रातः उठने से सोने तक जो भी कर्म हुआ, सोते समय भगवान् के सामने अपना हिसाब रख दे कि आज कितना लाभ हुआ या कितनी हानि हुई। भगवान् के सामने आँसू बहाए और प्रार्थना करे कि हे भगवन्! हमें भजन के लिए बल दो। यदि इस प्रकार कोई प्रयास करे तो वह चाहे व्याख्याता हो या अन्य कोई निश्चित ही भगवत्तत्त्व का लाभ प्राप्त कर लेगा।

*****

जिज्ञासा :- कोई व्यक्ति किसी आश्रम में रहकर सुबह से शाम तक सेवा कर रहा है जिससे वह आश्रम की दैनिक क्रियाओं में सम्मिलित नहीं हो पाता है और जप-ध्यान इत्यादि के लिए भी समय नहीं देता है तो उसका क्या होगा?

समाधान :- आश्रम में सेवा कर रहा है, यह बात ठीक है। पर क्या वह आश्रम में केवल सेवा करने के उद्देश्य से ही आया है? उसका आश्रम में आने का उद्देश्य भजन करना, सत्सङ्ग सुनना, सेवा करना इत्यादि होना चाहिए। यदि वह मात्र सेवा ही करेगा तो अन्य उद्देश्यों से वञ्चित रह जाएगा। इसलिए उसे सेवा उतनी करनी चाहिए कि वह ध्यान-भजन में सहायक हो। वह आश्रम में सेवा करते हुए चिन्तन क्या कर रहा है! उस पर भी बहुत निर्भर करता है। क्या वह अपनी सभी क्रियाओं को भगवान् से जोड़कर देखता है? यदि वह ऐसा करेगा तो उसके द्वारा वृक्ष में दिया गया पानी भी महादेव तक पहुँच जाता है और वह उसकी चित्तशुद्धि में हेतु बन जाता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो सेवा का उद्देश्य प्रारम्भ में भले ही ठीक हो, पर आगे चलकर बदल जाता है।

आपने कहा, वह आश्रम की दैनिक क्रियाओं में सम्मिलित नहीं हो

पाता है। यहाँ पर प्रश्न यह है कि क्यों नहीं होता? उस समय वह क्या करता है? यदि आश्रम के किसी काम से वह बाहर गया है तब तो उसे कोई दोष नहीं लगेगा, पर आश्रम में ही रहकर या तो कहीं बैठा है या फिर कुछ अन्य कार्यों में लगा है तो उसे सब छोड़कर आरती में आना चाहिए क्योंकि वहाँ से उसको बहुत ऊर्जा मिलेगी। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो उसके द्वारा मन्दिर के देवता का अपमान होगा जो उसके लक्ष्य में प्रतिबन्धक बन सकता है। उसे सुबह-शाम कुछ समय निकालकर जप-ध्यान भी करना चाहिए। इससे उसके मन की एकाग्रता बढ़ेगी और मन का परीक्षण होगा कि क्या स्थिति है! आजकल आश्रमों में यह समस्या आम बात है कि साधक घर से तो ठीक उद्देश्य को लेकर ही आता है, पर बाद में अपने उद्देश्य से भटक जाता है।

*****

जिज्ञासा :- आगम शास्त्र में मणिद्वीप में जाना ही मुक्ति कहा है। कृपया इसे स्पष्ट कीजिए?

समाधान :- जैसे वैकुण्ठ विष्णु से सम्बन्धित है, शिवलोक शिव से सम्बन्धित है, इसी प्रकार मणिद्वीप देवी से सम्बन्धित है। वैष्णव ग्रन्थों में विष्णुलोक में जानेवाले की मुक्ति कही है, शैव ग्रन्थों में शिवलोक में जानेवाले की मुक्ति कही है। इसी प्रकार शाक्त आगम में मणिद्वीप में जानेवाले की मुक्ति बताई है। ये सब एक ही लोक के नाम हैं। साधक की भावना के अनुसार उनको भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव हो जाते हैं।

*****

जिज्ञासा :- भगवद् गीता के अनुसार - **आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन...(गीता ८.१६)** जिसको ब्रह्मलोक में ज्ञान नहीं हुआ है, वह लौटकर आता है। क्या ब्रह्मलोक में भी अधिकारी की अपेक्षा रहती है?

समाधान :- यहाँ पर अपेक्षा-अनपेक्षा में तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य ज्ञान की महिमा बताने में है। ब्रह्मलोक जाने पर भी यदि वहाँ अपरोक्ष ज्ञान नहीं

हुआ तो वह मुक्त कैसे होगा! मुक्त नहीं हुआ तो पुण्य समाप्त होने पर नीचे आना ही पड़ेगा। ब्रह्मलोक में ज्ञानप्राप्ति का कोई साधन नहीं है। इसलिए जो उपासक यहाँ से परोक्षज्ञान के सहित ब्रह्मलोक जाता है, वह मुक्त हो जाता है। अश्वमेध यज्ञ करके भी व्यक्ति ब्रह्मलोक जा सकता है, पञ्चाग्निविद्या की उपासना के द्वारा भी ब्रह्मलोक जा सकता है, पर ऐसे लोगों को यदि यहाँ पर परोक्षज्ञान नहीं हुआ है तो वे लौटकर आते हैं।

*****

जिज्ञासा :- ज्ञानी का जब आगामी जन्म नहीं होगा तो उसके वर्तमान शरीर से किए जानेवाले कर्मों का क्या होगा?

समाधान :- ज्ञानी का आगामी जन्म नहीं होने से उसके वर्तमान शरीर से किए हुए कर्मों का भोग उसके द्वारा तो सम्भव नहीं है क्योंकि उसका उनसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता है। पर यदि कोई इस सिद्धान्त को माने कि **अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्** - अपने द्वारा किए हुए शुभाशुभ कर्म अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। इस पर विचार किया गया है कि ज्ञानी का शरीर ईश्वर को समर्पित हो जाता है, वह उस शरीर से अन्य जीवों का कल्याण करवाता है। वहाँ पर अशुभ होने की सम्भावना तो बहुत ही कम रहती है और जो शुभ कर्म होते हैं, उनसे अन्य जीवों का कल्याण होता है। जैसे किसी का कोई उत्तराधिकारी नहीं है तो उसकी सम्पत्ति सरकार के अधिकार में चली जाती है और सरकार उसका उपयोग जनकल्याण में करती है, इसी प्रकार ज्ञानी का भी भावी शरीर नहीं होने से ईश्वर उसके कर्मों का उपयोग जगत्कल्याण के लिए करता है।

इस विषय में एक अन्य व्यवस्था भी है कि जो व्यक्ति ज्ञानी के शरीर की सेवा करेगा उसको तो उस ज्ञानी के शरीर से होनेवाला पुण्य मिल जाएगा और जो उसकी निन्दा करेगा या उसके शरीर को किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाएगा, उसको उस ज्ञानी के शरीर से जाने-अनजाने में होनेवाले पाप मिल जाएँगे।

भक्ति और उपासना

जिज्ञासा :- गीता में भगवान् ने जो भक्तों के योगक्षेमवहन की बात कही है, उसका तात्पर्य क्या है?

समाधान :- उत्तरकाशी की सन् १९५४ की एक घटना मैं आपको सुनाता हूँ। उसी वर्ष आबूवाले स्वामीजी (स्वामी महेशानन्द गिरिजी) ब्रह्मचारीरूप में वहाँ पहुँचे थे। एक दिन उन्होंने एक वृद्ध महात्मा के सामने यह प्रश्न रखा कि पुराने समय में उत्तरकाशी में न तो महात्माओं के रहने के लिए आश्रम थे और न ही भिक्षा के लिए कोई अन्नक्षेत्र। महात्मा लोग कच्ची कुटिया अथवा विश्वनाथ मन्दिर के पास छप्पर में रह लेते और गाँव से भिक्षा करते थे। भोजन में नमक भी कभी-कभार ही मिलता था क्योंकि पहाड़ों में नमक बहुत महँगा था। भगवान् की प्रतिज्ञा है -

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। (गीता-९.२२)

वे महात्मा भजन तो बहुत करते थे। फिर भगवान् उनका योगक्षेम क्यों नहीं सम्भालता था, खाने को नमक भी नहीं देता था। इसके विपरीत हम लोगों का भजन तो कमजोर है पर सुविधा बहुत बढ़ गई है। रहने को आश्रम है, भिक्षा के लिए अन्नक्षेत्र हैं, भण्डारे होते रहते हैं, बहुत वस्तुएँ मिलती रहती हैं। वह हमारा ख्याल रखता है और इतना भजन करनेवालों का ख्याल नहीं रखता, फिर भगवान् की प्रतिज्ञा का क्या हुआ?

महात्मा ने बहुत सुन्दर जवाब दिया। उन्होंने कहा, 'देखो महात्मन्! भगवान् तो कल्पवृक्ष है, उसके नीचे जो संकल्प करो वह पूरा होता है। **उन लोगों को फकीरी का ही शौक था।** हमारा जीवन त्यागमय, तितिक्षामय हो यही उनका शौक था। सुविधाओं को वे चाहते ही नहीं थे। उनका योगक्षेम

भगवान् उसी प्रकार वहन करता था, **उन्हें फकीरी ही देता था।** हम लोग तो खाने-पीने की सुविधा, पैसा, यश सब कुछ चाहते हैं। भगवान् का आश्रय लेकर जो चाहेगा भगवान् वही देगा।'

इसलिए साधक के प्रति **योगक्षेमवहन** का अर्थ सुविधा देना नहीं है। भगवान् उसकी साधना के अनुकूल वातावरण उपलब्ध कराता है, उसके विवेक-वैराग्य और मुमुक्षा की रक्षा करता है। उसके फकीरी के शौक की रक्षा करता है। योगक्षेम केवल रोटी-पानी की बात नहीं है, **साधक की साधना के लिए, ज्ञानप्राप्ति के लिए जो आवश्यक है उसकी प्राप्ति कराना ही 'योग' है और उसकी जो अभ्यासजन्य स्थिति है उसकी रक्षा करना ही 'क्षेम' है।** इसलिए यदि साधक के लिए किसी अवस्था में थप्पड़ की जरूरत है तो भगवान् उसका भी योग कराता है, उसके जीवन में अपमान का योग लाकर उसकी बुद्धि को जगत् से हटाता है। उसके अन्दर जो समत्व है उसकी रक्षा करता है। इन सब शब्दों को बड़ी सूक्ष्मता से ठीक समझकर रखना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- अनन्य भक्त क्या अपने इष्ट से अतिरिक्त किसी अन्य देवता को प्रणाम न करे?

समाधान :- यदि ऐसे भक्त की दृष्टि में यह आता है कि राम की मूर्ति ही मेरे इष्ट हैं, इससे अतिरिक्त नहीं, तो वह प्रणाम नहीं करेगा क्योंकि अपने इष्ट से अन्य दूसरा कोई उसके लिए उपास्य नहीं है। परन्तु यदि भक्त ऐसा सोचता है कि सभी मूर्तियाँ मेरे इष्ट की ही हैं तब तो वह सभी को प्रणाम कर सकता है। तुलसीदासजी ने भी कहा है –

सो अनन्य जाकें अस मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।।(मानस,किष्कि.-३)

संसार में चर-अचर जो भी पदार्थ हैं सब मेरे इष्ट के ही रूप हैं। जब भक्त ऐसा मानेगा तब तो सभी को प्रणाम करेगा। सभी देवताओं का रूप मेरे इष्ट ने ही धारण किया है यही उसका भाव बनेगा। हमें तो यही दृष्टि ठीक लगती है।

*****

जिज्ञासा :- भगवान् की प्राप्ति के लिए उनके प्रति कैसा भाव होना चाहिए?

समाधान :- भगवान् के प्रति बड़ा दृढ़ अर्थात् कभी न गिरनेवाला भाव होना चाहिए। भगवान् के लिए ऐसा प्रेम हो कि उनकी ओर से पत्थर भी बरसें तो भी हमारी निष्ठा, प्रेम और भाव बना रहे। चातक नाम का एक पक्षी होता है जो केवल बादलों से गिरनेवाले जल को ही पीता है, नदी आदि के जल को नहीं पीता। जब बादल आते हैं तो उनकी ओर ताकता रहता है। एक बार वह गङ्गाजी के किनारे किसी पेड़ पर बैठकर चिल्ला रहा था। इतने में बादल घिर आए तो वर्षा होगी ऐसा सोचकर वह बड़ा प्रसन्न हो गया। वर्षा तो बहुत कम हुई पर ओले बहुत गिर गये। चातक ने तो मुँह ऊपर की ओर खोल रखा था, ओलों से उसकी चोंच टूट गई। उसके गले में, पूरे शरीर में बहुत चोट लगी। वह अधमरा होकर गङ्गाजी में गिर गया।

इतना पवित्र गङ्गा जल है पर चातक ने यही सोचा कि कहीं यह पानी मेरे मुख में न चला जाए। इसलिए चोंच को जल से बाहर करके ऊपर की ओर ही ताकता रहा। उसका बादल के प्रति इस प्रकार का एकनिष्ठ प्रेम है। बादल की ओर से भारी आपत्ति मिलने पर भी उसके प्रेम या निष्ठा में कोई कमी नहीं हुई। इसी प्रकार से घनश्याम, शिव या राम किसी भी इष्ट के प्रति जब आपकी निष्ठा हो जाएगी तब भगवत्प्राप्ति सम्भव होगी।

*****

जिज्ञासा :- श्रीमद्‌भगवद्गीता में कहा है –

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। (७.१५)

आगे भगवान् ने कहा - **उदाराः सर्व एवैते...**। गीता में एक ओर तो सकामता की निन्दा की गई है, फिर इस श्लोक में आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु- इन भक्तों को उदार कैसे कह दिया?

समाधान :- ऐसा भी भक्त होता है जो पूर्णतः निष्काम नहीं हुआ, कामना उसके अन्दर है, परन्तु उसकी भक्ति का निमित्त कामना नहीं है। वह पहले से ही स्वाभाविक रूप से भगवान् का भक्त है, भगवान् को ही अपना आधार मानता है, इसलिए जब कोई समस्या आती है तो उसे भगवान् के सामने रख देता है। जब जगत् में वह भगवान् को ही एकमात्र सहारा मानता है तब समस्या होने पर आखिर किससे कहेगा? भगवान् चाहे उसकी समस्या को हल करें या न करें, इससे उसकी भक्ति में कोई अन्तर नहीं आता।

गीता में भगवान् ने जिन्हें उदार कहा वे भक्त इसी प्रकार के हैं। अर्थार्थी भक्त का दृष्टान्त ध्रुव को ले लीजिए। जब पिता की गोद में बैठने गए तो विमाता ने रोक दिया और कहा कि तुम पहले भगवान् की भक्ति करो, तपस्या करो, फिर मेरी कोख से जन्म लो तब इस गोद में बैठ सकते हो। ध्रुव रोते हुए अपनी माता के पास गए तो उसने कहा, 'विमाता ने ठीक ही कहा है, तुम्हें कुछ भी प्राप्त करना हो तो भगवान् की भक्ति करनी ही पड़ेगी।' ध्रुव को बात लग गई। वे मथुरा के वन में जाकर भगवद्भक्ति में तन्मय हो गए। भगवान् के दर्शन होने पर स्तुति करना चाहते थे तो वाणी ही नहीं खुली। जब भगवान् ने शंख से स्पर्श किया तो वाणी फूट पड़ी –

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां।
संजीवत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।।

अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्।
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्।।
(भागवत ४.९.६)

उन्हें कण-कण में भगवान् के दर्शन होने लगे। विष्णु भगवान् तो सामने खड़े हैं, पर स्तुति कर रहे हैं कि जो हमारे अन्दर प्रविष्ट होकर वाणी को निकाल रहा है, नेत्रों से दिखा रहा है, उसे नमस्कार करता हूँ। प्रत्येक हृदय में व्यापक विष्णु का दर्शन उन्हें होने लगा।

जब भगवान् ने कहा कि तुम्हें जाकर हजारों वर्षो तक राज्य करना पड़ेगा तो ध्रुव बोले, 'हमें राज्य नहीं चाहिए, हमें तो केवल आपकी भक्ति चाहिए।' पर भगवान् ने कहा, 'राज्य की इच्छा तुम्हारी तपस्या में निमित्त बनी थी, अब यह भोग तो तुम्हें भोगना ही पड़ेगा।' जब ध्रुव वहाँ से घर की ओर चले तो बहुत दुःखी मन से आ रहे थे। यदि उनकी भक्ति नैमित्तिक (सकाम) होती तो उन्हें बहुत प्रसन्न होना चाहिए था। परन्तु वे तो दुःखी हो रहे थे कि उच्च पद की इच्छा हमारी भक्ति के प्रारम्भ में निमित्त क्यों बन गई। अब व्यर्थ ही राजकाज में फँसना पड़ेगा। ध्रुवजी अर्थार्थी होने पर भी उदार भक्त हैं या नहीं!

इसी प्रकार आर्त भक्त का दृष्टान्त है - द्रौपदी ने जब सभा में देख लिया कि भीष्मादि बड़े-बड़े महापुरुष, हमारे वीर पति लोग और धर्म के बड़े-बड़े ज्ञाता यहाँ बैठे हुए हैं, पर इस समय मेरी लाज की रक्षा करनेवाला इस जगत् में कोई भी नहीं है, तब उसने भगवान् को तन्मयता से पुकारा। भगवान् तो भावग्राही हैं, भक्तों की रक्षा करते ही हैं। द्रौपदी भी कृष्ण की भक्त पहले से ही है, समस्या आने पर और किसका स्मरण करेगी। बाद में भी वनवास काल में अनेकों विपत्तियाँ आने पर भी उसकी भक्ति में कोई कमी नहीं आई।

यहाँ जिस जिज्ञासु भक्त को कहा गया है वह भी भगवान् को ही जानना चाहता है, जगत् को नहीं। तीनों प्रकार के भक्तों की भक्ति परिस्थितियों से प्रभावित होनेवाली नहीं है। इसलिए इन भक्तों को सकाम नहीं मान सकते। यदि कोई सकाम आर्त भक्त है तो वह समस्या दूर न होने पर भक्ति छोड़ देगा। इसी प्रकार सकाम अर्थार्थी भक्त को यदि उसका अभीष्ट पदार्थ नहीं मिला तो वह भगवान् को कोस भी सकता है। पर जो गीता में कहे गए भक्त हैं, वे इस प्रकार के नहीं हैं। उनके जीवन में अभीष्ट वस्तु का या अपनी समस्या का महत्व नहीं है, अपितु भगवान् का ही महत्व है। सकाम भक्तों से उनका यही भेद हमें मालूम पड़ता है। इसी दृष्टि से भगवान् ने उन्हें उदार कहा है।

*****

जिज्ञासा :- गीता में **उदाराः सर्व एवैते** इस प्रकार से तीन श्रेणी के भक्तों को कहकर फिर ज्ञानी को उनसे विशिष्ट क्यों बताया है?

समाधान :- आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी - ये भक्त उदार तो हैं, परन्तु उनकी दृष्टि में भगवान् और भक्त में भेद रहता है। भगवान् को अपने से भिन्न मानकर ही वे भक्ति करते हैं। पर जो ज्ञानी भक्त है उसकी दृष्टि में भगवान् और भक्त में भेद नहीं है। इसलिए कहा - **एकभक्तिर्विशिष्यते (७.१७)**, ज्ञानी की भक्ति एकान्तिक भक्ति है। वह अपने को भगवान् से भिन्न नहीं मानता, अभेद भक्ति करता है। इसीलिए भगवान् को कहना पड़ता है - **ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् (७.१८)**, ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। वैसे तो भगवान् से भाव का सम्बन्ध तो सभी का है। अभेद भक्ति के कारण ज्ञानी को अन्यों से अलग करके कहा।

*****

जिज्ञासा :- सगुण-साकार ईश्वर की भक्ति के लिए निर्गुण-निराकार तत्त्व को जानना आवश्यक है क्या?

समाधान :- सगुण भक्ति के लिए निर्गुण स्वरूप को जानने की कोई आवश्यकता नहीं है। सगुण ईश्वर की भक्ति करो तो लाभ होगा। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त थे - **नामदेवजी।** उनके पिताजी रोज विट्ठल भगवान् की पूजा करते, भोग लगाते, नामदेव जब छोटे थे तो पिता के समीप बैठकर पूजा देखते थे। नामदेव को भी रोज प्रसाद मिलता था। एक बार पिताजी कहीं बाहर जा रहे थे तो उन्होंने नामदेव से कहा, 'बेटा, जब तक मैं न आऊँ, तुम भगवान् की पूजा कर देना और भोग लगा देना।' बालक ने भोग लगाया, पर उसे यह मालूम नहीं था कि भगवान् नहीं खाते। वह तो सोचता था कि भगवान् खाएँगे और थोड़ा प्रसाद मेरे लिए छोड़ देंगे। जब भगवान् ने नहीं खाया तो वह घबरा गया। उसने स्वयं भी भोजन नहीं किया।

इसी प्रकार से तीन दिन बीत गए। भगवान् ने भोग नहीं खाया और बेचारा बालक भी भूखा रह गया। वह समझ नहीं पा रहा था कि मेरे बनाने में क्या गलती होती है जिससे भगवान् नहीं खाते। चौथे दिन भोग लगाकर जब देखा कि भगवान् नहीं खा रहे हैं तो उसे बड़ा क्रोध आया कि आखिर मुझमें क्या दोष है जो ये नहीं खा रहे। उसने मारने के लिए हाथ में पत्थर उठा लिया तो भगवान् प्रकट हो गए। नामदेव ने कहा, 'मैं चार दिन से भूखा मर रहा हूँ, खाना क्यों नहीं खाते?' भगवान् तुरन्त भोजन करने लगे।

जब बालक को लगा कि यह तो सारा खा जाएँगे तो बोला कि मैं भी भूखा हूँ, कुछ छोड़ोगे नहीं? भगवान् बोले, 'मैं भी चार दिन से भूखा था, इसलिए ध्यान नहीं रहा, तू भी बैठकर खा ले।' नामदेव के भाव के कारण सगुण-साकार परमेश्वर उनके लिए प्रत्यक्ष हो गए। विट्ठल की वह मूर्ति उनके लिए चैतन्य हो गई, उसके साथ खाना-खेलना सब करते थे। इसके लिए नामदेव को निर्गुण-निराकार स्वरूप को जानने की आवश्यकता कहाँ पड़ी! सगुण-साकार को भाव से पकड़ने पर लाभ मिलता ही है।

*****

जिज्ञासा :- यदि भक्ति करते-करते अपने इष्ट का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाए तब भी कुछ कर्तव्य शेष रहता है क्या?

समाधान :- इष्ट का दर्शन होने पर भी जब तक उसके तत्त्व का ज्ञान नहीं होता तब तक कर्तव्य शेष रहता ही है। महाराष्ट्र के सन्त नामदेवजी को बचपन में ही विट्ठल का दर्शन हो गया था, उनके साथ उनका वार्तालाप होता रहता था, परन्तु उन्हें भगवान् के निर्गुण स्वरूप का ज्ञान नहीं था। एक बार पंढरपुर में सन्तों की सभा हुई जिसमें ज्ञानेश्वर आदि सभी सन्त आए थे, वहाँ गोरा कुम्हार नाम का एक बड़ा भक्त भी था। ज्ञानेश्वर ने विनोद में उससे कह दिया, 'भाई! तू घड़ा बनाता है, तुझे पता रहता है कौन घड़ा कच्चा है, कौन पक्का। जरा यहाँ भी परीक्षा कर ले कि कौन कच्चा है, कौन पक्का?'

तब गोरा कुम्हार अपनी घड़ा परीक्षण करनेवाली थापी लेकर सबके सिरपर रखने लगा। बाकी सन्त तो कुछ नहीं बोले, पर नामदेव को बुरा लग गया, वे बोले - यह तो सन्तों का अपमान करता है। तब गोरा ने कहा, 'ज्ञानजी यह कच्चा घड़ा है, निगुरा है निगुरा।' नामदेव को बहुत बुरा लगा, रोते हुए भगवान् के पास आए और कहा, 'सभा में हमारा अपमान कर दिया, निगुरा बोल दिया।' भगवान् बोले, 'बात तो ठीक ही है, तुमने अब तक गुरु बनाया ही नहीं।' नामदेव बोले, 'अरे! हमें आपके दर्शन हो गए तब भी गुरु बनाने की जरूरत है!' भगवान् ने कहा, 'हाँ, गुरु बनाने की जरूरत तो है। मैं केवल इस मन्दिर में ही नहीं रहता हूँ, मैं तो सब जगह हूँ। मैं उस सभा में भी था और उस थापी में भी था। तुझे वहाँ मैं क्यों नहीं दिखा? मुझे ठीक से समझने के लिए तुझे गुरु बनाना ही पड़ेगा। मैं जो तुझे दीखता हूँ इतना ही नहीं हूँ।'

नामदेव ने कहा, 'आप ही हमारे गुरु बन जाइए।' भगवान् बोले, 'मैं किसी का गुरु नहीं बनता। तुम्हें किसी मनुष्य को ही गुरु बनाना पड़ेगा।' नामदेव के प्रार्थना करने पर भगवान् ने उन्हें ज्ञानी विसोबा खेचर के पास भेज

दिया। उन्होंने नामदेव को कण-कण में विट्ठल का ज्ञान कराया, परमेश्वर तत्त्व का ज्ञान कराया। परमेश्वर का वास्तविक स्वरूप निर्गुण-निराकार है, इसलिए सगुण-साकार का दर्शन होने के बाद भी निर्गुण तत्त्व का ज्ञान होने तक कर्तव्य शेष रहता ही है।

*****

जिज्ञासा :- ईश्वर की उपासना से क्या अकाल मृत्यु भी टल सकती है?

समाधान :- यदि सच्चे भाव से ईश्वर की शरण ग्रहण की जाए तो कुछ भी असम्भव नहीं है। शास्त्रों में इस प्रकार के कई दृष्टान्त भी मिलते हैं। मृकण्डु ऋषि के कोई सन्तान नहीं थी। पुत्रप्राप्ति के लिए उन्होंने अपनी पत्नी के साथ नर्मदा किनारे शिवलिङ्ग की स्थापना करके दीर्घकाल तक तपस्या की, महादेव की आराधना की। महादेव प्रकट हुए और उन्होंने कहा, 'तुमने पुत्र की इच्छा से मेरी आराधना की है। तुम यदि दीर्घायु पुत्र चाहते हो तो वह मूर्ख होगा और यदि बुद्धिमान् पुत्र चाहते हो तो उसकी आयु मात्र बारह वर्ष ही होगी।'

मृकण्डु बोले, 'भगवन्! मुझे मूर्ख पुत्र नहीं चाहिए, बुद्धिमान् पुत्र ही चाहिए।' शिवजी वरदान देकर अन्तर्धान हो गए। कुछ समय बाद मार्कण्डेय पैदा हो गए। उन्होंने थोड़े ही काल में सम्पूर्ण वेद और सभी विद्याओं का अध्ययन कर लिया। शिवजी के वे अनन्य भक्त थे। जब उनके बारहवें वर्ष की शुरुआत हुई तो माता-पिता बहुत दुःखी रहने लगे। उनके बहुत पूछने पर पिता ने बताया कि शिवजी ने तुम्हें सिर्फ बारह वर्ष की आयु दी है, कुछ दिन बाद तुम हमसे दूर चले जाओगे, इसीलिए हम दुःखी रहते हैं। मार्कण्डेय ने पूछा, 'क्या इस दुःख को दूर करने का कोई उपाय नहीं है?' तब पिता बोले, 'उपाय तो यही है कि जिन महादेव ने तुम्हें आयु दी है वही तुम्हारी रक्षा कर सकते हैं।'

मार्कण्डेय तन्मयता से शिवभक्ति में लग गए। जब आयु का अन्तिम

दिन आया तो पिता ने कह दिया कि आज किसी हालत में मन्दिर नहीं छोड़ना। समय पूरा होने पर यमदूत उन्हें लेने के लिए आया पर वह मन्दिर में घुस न सका और यमराज के पास लौट गया। यमराज ने सोचा नीति का पालन तो होना ही चाहिए, हम स्वयं जाएँगे। उन्होंने मन्दिर के बाहर से ही मार्कण्डेय की जीवकला को खींचने के लिए पाश फेंका। अब मार्कण्डेय ने जोर से शिवलिङ्ग को पकड़ लिया और चिल्लाए - **रक्ष माम् , रक्ष माम्।** महादेव प्रकट हो गए और यमराज के ऊपर त्रिशूल उठा लिया।

यमराज बोले, 'महाराज! आप हमारे ऊपर क्यों क्रोध करते हैं? आयु तो आपने ही दी है, हम तो आपकी नीति के पालक हैं।' महादेव बोले, 'यह बात ठीक है कि आयु हमने ही दी है, परन्तु शरणागत की रक्षा करना तो सबसे बड़ा कर्तव्य है। इसलिए पहले हमसे युद्ध करके हमें पराजित करो, तब इसे मार सकते हो।' अब बेचारे यमराज क्या करें! उनको लौटना ही पड़ा। मार्कण्डेय की बारह वर्ष की आयु निर्धारित थी पर तब से सात कल्प बीत गए और वे अब भी घूम रहे हैं। प्रारब्ध से ही सब कुछ होता है यह बात ठीक है, पर ईश्वर की शरण लेने से वह प्रसन्न हो जाएँ तो प्रारब्ध को भी बदल सकते हैं।

*****

जिज्ञासा :- गीता में कहा गया है कि पुरुषोत्तम को जाननेवाले सर्वभाव से उसका भजन करते हैं। सर्वभाव से भजन का क्या अर्थ है?

समाधान :- जब पुरुषोत्तम का अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान हो जाता है तो यही अनुभव होता है कि सब कुछ परमेश्वर ही है। जब परमेश्वर से दूसरा कुछ रहा ही नहीं तो ऐसे ज्ञानी की इच्छा पूर्णरूप से समाप्त हो जाती है। जब तक यह ज्ञान नहीं होता कि यह सारा जगत् एक परमेश्वर ही है तब तक व्यक्ति का भाव रहता है - **इदं मे स्यात्, इदं मे स्यात्। चणकाश्च मे,**

गोधूमाश्च मे। मनुष्य को बहुत-कुछ चाहिए। पर जब उसे ज्ञान होता है कि एक परमेश्वर ही सर्व है, दूसरा है ही नहीं तो जगत् का सारा रहस्य उसे ज्ञात हो जाता है। तब जो भाव जगत् में अलग-अलग बिखरा हुआ है वह एक जगह केन्द्रित हो जाता है, यही सर्वभाव है। सर्वभाव से भजन का अर्थ यही होगा कि एक परमेश्वर को ही सर्व मानकर उनका भजन करना। ज्ञानी का यह भजन स्वतः होता है, उसे करना नहीं पड़ता।

*****

जिज्ञासा :-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।
(गीता ९.२२)

इस श्लोक में जो अनन्यचिन्तन कहा गया है उसका स्वरूप क्या है?

समाधान :- जब तक व्यक्ति के अन्दर जगत् की कामना रहती है तो वह जो भी करता है, देवता या गुरु किसी के पास भी जाता है उस कामना की पूर्ति के उद्देश्य से ही जाता है, भगवान् के लिए नहीं। उसका चिन्तन भी जगत्विषयक ही होता है, यह अन्य चिन्तन हो गया। ऐसा चिन्तन जिसमें अन्य कोई चिन्तन नहीं है वह अनन्य चिन्तन हुआ। यह प्रसंग गीता के नवें अध्याय का है, इसी का आगे अठारहवें अध्याय में विस्तार से वर्णन किया गया है। जो भी कर्मी हैं, सबकी पूजापद्धति भिन्न-भिन्न होती है, परन्तु सबको फल भगवान् से ही मिलता है।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।।
(९.२०)

यज्ञादियों का आधार लेकर जो देवताओं का पूजन किया जाता है,

उसका फल भी भगवान् से ही मिलता है। जिसको जो भी फल मिलता है, मूल से ही मिलता है। परन्तु **अनन्याश्चिन्तयन्तो ...** इस श्लोक में जिस साधक का संकेत किया गया है, उसका भगवान् को छोड़कर न कोई अन्य आधार है, न अन्य लक्ष्य। अनन्य वही है जिसका आधार केवल भगवान् है, अन्य कोई नहीं। प्रायः लोगों की सोच रहती है कि शरीर स्वस्थ है, पर्याप्त धन है, लोग सम्मान करते हैं, रिश्तेदार सहयोग करते हैं तो सब ठीक है। इन सब चीजों को अपना आधार बनाकर रखते हैं, इसलिए इनके ठीक रहने पर मन प्रसन्न रहता है और इनमें से किसी में भी थोड़ी-सी समस्या आने पर मन में दुःख आ जाता है। यह जगत् का आधार टूटकर हमारा आधार भगवान् बनना चाहिए।

भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा...(मानस.अरण्य.-४२.२)

साधक जब जगत् का आधार छोड़ देता है तो बड़ी-से-बड़ी समस्या आने पर भी मन में विक्षेप नहीं होगा। साधक अपने लक्ष्य को हमेशा ठीक रखेगा तो जगत् में बिना विक्षेप से रह सकता है और समय आने पर सम्पूर्ण संसारी आधारों को लात मारकर निकल भी सकता है। भरत जैसा चक्रवर्ती राजा भी राज्य छोड़कर तपस्या के लिए जंगल इसीलिए जा सका कि मन की तैयारी पहले से ही थी।

ऐसे ईश्वराश्रित भक्त का जीवन भगवान् की प्रसन्नता पर निर्भर करता है। किसी भी कार्य में उसे लगे कि यह भगवान् को अच्छा नहीं लगेगा तो उसकी गति रुक जाती है। ऐसा करने से भगवान् अप्रसन्न होते हैं, इसे कैसे जानें? इसके दो उपाय हैं - शास्त्र भगवान् की आज्ञा है, प्रारम्भ में ऐसा भक्त अपने हर व्यवहार को शास्त्र से मिलाता है क्योंकि यदि व्यवहार शास्त्रविरुद्ध है तो भगवान् अप्रसन्न होंगे। परन्तु जब भक्त इस कक्षा को पार कर लेता है तो उसकी भावना ऊपर हो जाती है, शास्त्र नीचे रह जाता है। वह भाव से ही

भगवान् की प्रसन्नता-अप्रसन्नता को समझ लेता है।

वह जो भी भजन करता है उसका लक्ष्य केवल भगवान् ही रहता है और वह भगवान् पर यह भी लादना नहीं चाहता कि वे मुझे दर्शन दें। साधक की बुद्धि ने भगवान् को वरण कर लिया तब भी शरीर से व्यवहार तो बहुतों के साथ करना पड़ेगा। परन्तु उसके प्रत्येक व्यवहार में भगवान् की प्रसन्नता का भाव अनुस्यूत रहता है। उसकी प्रसन्नता के लिए यह साधक सब कार्य करता है, परन्तु इससे भगवान् मुझसे प्रसन्न हों, इतनी भी चाह नहीं रखता। इसी बात को भाष्यकार भगवान् ने कहा - **ईश्वरो मे तुष्यतु इति सङ्गं त्यक्त्वा... (गीताभाष्य-२.४८)**। ऐसा साधक 'भगवान् प्रसन्न हों', ऐसी आज्ञा उनपर नहीं चलाता, केवल उसकी आज्ञा समझकर सभी कार्य करता है। इसका सम्बन्ध हमारे कर्तव्य से है, उसके ऊपर हमें कुछ नहीं लादना। इन दो बातों में बहुत बड़ा अन्तर है। मेरे इस कार्य से भगवान् मुझपर प्रसन्न हों, इसका अर्थ यह हुआ कि उनकी प्रसन्नता से हमें कुछ लाभ की आशा है अन्यथा ऐसा क्यों चाहेंगे!

जानकीजी प्रतिदिन माँग में सिन्दूर लगाती थीं। एक दिन हनुमानजी ने पूछ लिया कि माता इसे क्यों लगाती हैं? जानकीजी ने कहा कि इसे देखने से रामजी प्रसन्न रहते हैं। यहाँ जानकीजी का **ईश्वरो मे तुष्यतु** (प्रसन्न हों) यह भाव नहीं है, अपितु **ईश्वरः प्रसन्नो भवति** (प्रसन्न होते हैं) - ऐसा भाव है। हनुमानजी ने सुना तो सिन्दूर लेकर पूरे शरीर में पोत लिया जिससे भगवान् प्रसन्न रहें। हनुमानजी का स्वयं का कोई प्रयोजन नहीं है, राम का स्वभाव है सिन्दूर देखकर प्रसन्न होना, ऐसा समझकर उस स्वभाव के अनुसार अपने को ढाल रहे हैं।

एक बार राधाजी कृष्ण के वियोग से बहुत दुःखी होकर भवानी के पास गईं और कहा कि आप ऐसी कृपा करें जिससे यह शरीर छूट जाए, मुझे

जीने की इच्छा नहीं है। इतने में एक विचार आ गया कि इससे कृष्ण को कैसा लगेगा, वे तो अप्रसन्न हो जाएँगे। सोचते ही घबराकर कहा, 'माता! यह शरीर बना रहे इससे कृष्ण प्रसन्न रहेंगे।' ऐसा चिन्तन, भाव जिसका बन जाएगा, उसकी सम्भाल तो भगवान् को करनी ही पड़ेगी।

यह आधारभूत अनन्यभक्ति आगे चलकर पराभक्ति या ज्ञान में बदल जाती है जिसके बारे में भगवान् ने गीता के अठारहवें अध्याय में कहा है -

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चाऽस्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।(५४-५५)

इस भक्ति में पहुँचने पर भक्त की सीमित अहन्ता समाप्त हो जाती है, वह परमात्मा को **स्व** से भिन्न नहीं जानता। इसलिए वह अनन्य ही होगा। यही मुख्य अनन्यता है। पहली कोटि का अनन्य भक्त जो परमात्मा को **स्व** से भिन्न जानता है, उसका भी आधार परमात्मा ही है, उसका सम्पूर्ण **ममत्व** परमात्मा में ही केन्द्रित है। दूसरी कोटि के भक्त के लिए तो परमात्मा **मम** नहीं रहता, **अहं** ही हो जाता है।

ऐसे भक्त का कोई भी व्यवहार ऐसा नहीं रहता जिसमें उसकी उपासना या भक्ति अनुस्यूत न हो, वह तो श्वास भी भगवान् के लिए लेता है। जब ऐसा भक्त अन्य कोई आधार लिए बिना परमात्मा का अभेदरूप से चिन्तन करता है, शरीररक्षा के लिए भी प्रयत्न नहीं करता, तब उसकी खोज-खबर तो परमात्मा को करनी ही पड़ेगी।

... भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।।
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।।
(मानस.अरण्य.-४२.२/३)

ऐसे भक्त के योगक्षेम का वहन परमात्मा ही करता है। **योग का अर्थ उसकी रक्षा के लिए जितना प्रबन्ध आवश्यक होता है, वह सब ईश्वर ही जुटा देता है और क्षेम का अर्थ है उसकी जो आन्तरिक स्थिति है, उसकी सतत रक्षा करता है।** यही यहाँ योगक्षेमवहन का तात्पर्य है, कोई संसारी वस्तुओं की प्राप्ति नहीं।

*****

जिज्ञासा :- भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग दोनों का लक्ष्य एकत्व है। दोनों प्रकार से प्राप्त एकत्व में क्या भेद है?

समाधान :- ज्ञानमार्ग का लक्ष्य एकत्व है, यह बात तो ठीक है, परन्तु भक्तिमार्ग का लक्ष्य एकत्व है, ऐसा नहीं लगता। भक्तिमार्ग में कुछ-न-कुछ द्वैत रहेगा अन्यथा भक्त भगवान् का भजन कैसे करेगा! इसीलिए भक्तिमार्गी कहते हैं -

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतम् अद्वैतादपि सुन्दरम्।।

ज्ञान से पहले होनेवाला द्वैत मोह में डालनेवाला होता है, पर विचार करने के बाद जब बोध हो गया तब भी हम द्वैत की कल्पना करेंगे। इस प्रकार का जो कल्पित द्वैत है वह अद्वैत से भी सुन्दर है। भक्तिमार्गी तो भजन के आनन्द के लिए भगवान् से कुछ-न-कुछ भेद रखना ही चाहते हैं।

*****

जिज्ञासा :- गीता में कहा गया है -

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।(९.३०)

शास्त्र कहता है कि अन्तःकरण शुद्धि के बिना तो व्यक्ति की भगवद्भजन में रुचि नहीं होती। फिर अत्यन्त पापी भजन में कैसे लग जाते हैं?

समाधान :- ऐसा जहाँ दीखता है तो समझना चाहिए कि उनके पूर्व के संस्कारों से होता है। कभी कोई महात्मा आकर उनके जीवन में परिवर्तन कर देते हैं। इसमें समझना चाहिए कि उन्हीं के संस्कार होते हैं जो महात्मा के मिलने पर उदित हो जाते हैं और वे व्यक्ति झट् बदल जाते हैं। बहुत-से लोग नशा करते हैं, कुछ दिन के लिए छोड़ते भी हैं, फिर कहते हैं कि उसके बिना हम रह नहीं सकते। परन्तु ऐसे लोगों को भी हमने देखा जिन्होंने हमेशा के लिए नशा छोड़ दिया। जब ऐसे उदाहरण दीखते हैं तो कह सकते हैं कि उनके अच्छे संस्कारों का उदय हो गया जिसमें उनकी दृढ़ धारणा या संकल्प भी हेतु बनता है।

जब पापी लोगों के एकदम बदल जाने के और भजन में तल्लीन होने के प्रत्यक्ष उदाहरण मिलते हैं तब केवल शास्त्रवाक्य के आधार पर हम इसका निषेध नहीं कर सकते। शास्त्र तो सामान्य रूप से कहता है -

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः...(गीता-७.१५)

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन...(गीता-७.१६)

जो दुष्कर्मी होता है वह मेरी शरण में नहीं आता और सत्कर्मी मेरा भजन करता है, यह सामान्य नियम है। परन्तु हर नियम का अपवाद भी होता है। ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिनके ऊपर महात्मा या ईश्वर की कृपा होने से उनके शुभ-संस्कार अचानक उदित हो जाते हैं। उनकी अहंता में ही परिवर्तन हो जाता है। इसलिए जब लोक में प्रत्यक्ष रूप से कई पापी लोग अचानक बदलकर भजन में लगते हुए देखे जाते हैं तो केवल शास्त्रवाक्य के आधार पर उसका निषेध नहीं कर सकते।

*****

जिज्ञासा :- उपासना में न्यासों का क्या महत्व है?

समाधान :- वेद-पुराण सभी जगह उपासनाओं में इनका महत्व माना गया है और आगम में तो बहुत अधिक महत्व माना गया है। न्यास

कोई थोपी हुई चीजें नहीं है, बहुत वैज्ञानिक है। व्याकरण में न्यास शब्द दो प्रकार से बनता है - **नि पूर्वक आस्-उपवेशने धातु से और नि पूर्वक असुप्-क्षेपणे** धातु से। हमारे अन्दर जो गलत ज्ञान है उसका न्यास के द्वारा क्षेपण (बाहर निकालना) होता है और जो वास्तविकता है उसका उपवेशन (अन्दर बैठाना) होता है। शरीर परमेश्वर का है, देवता का है इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसमें जो अहं-बुद्धि हुई है, यह गलत ज्ञान है, उसे दूर करने के लिए अङ्गादि न्यास किए जाते हैं। शरीर मैं हूँ इस गलत ज्ञान को इस न्यास से दूर किया जाता है।

हमारे अन्दर जो कर्तृत्वाभिमान है, वह मिथ्या है। जैसे बल्ब सोचे कि मैं प्रकाश कर रहा हूँ तो वह सोचना मिथ्या है, उसी प्रकार जीव सोचे कि मैं अमुक कार्य कर रहा हूँ तो वह उसका कहना मिथ्या ही होगा। अरे! ताकत ईश्वर दे रहा है, तुम क्या कर सकते हो। इस सचाई को स्वीकार करने के लिए जो प्रयोग है उसका नाम है - **करन्यास।** इसके द्वारा कर्तृत्वाभिमान को दूर किया जाता है। इस प्रकार के कई न्यास होते हैं। इन न्यासों के द्वारा शरीर में देवता की भावना की जाती है जिससे शरीर देवतामय होकर साधना के लिए समर्थ हो जाता है। शास्त्र का सिद्धान्त है - **देवो भूत्वा देवान् यजेत्।** यह कार्य न्यास से ही सम्भव है। आगम परम्परा में तो बिना न्यास के कोई साधना हो ही नहीं सकती।

वैदिक मन्त्रों के प्रयोग में चार मुख्य बातें हैं। आपको उस मन्त्र के द्रष्टा-**ऋषि** का ज्ञान होना चाहिए। मन्त्र एक प्रकार की शक्ति है उसे एक नियमबद्ध रूप से शब्दों में ढालकर आपको दिया जाता है, वह नियम ही छन्द है, उस **छन्द** का आपको ज्ञान होना चाहिए। प्रत्येक मन्त्र का किसी-न-किसी देवता से सम्बन्ध रहता है, इसलिए मन्त्र के **देवता** का ज्ञान भी होना चाहिए। साथ ही उस मन्त्र का **विनियोग** आप किस कार्य में कर रहे हो,

इसका ज्ञान भी आवश्यक है।

इन ऋषि आदि के न्यास की एक प्रक्रिया है - **ऋषिर्गुरुत्वात् शिरसि।** मन्त्र में ऋषि का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, इसलिए उसका न्यास सिर में किया जाता है। छन्द का सम्बन्ध वाक् से है, अतः उसका न्यास **मुख** में होता है। देवता का सम्बन्ध **हृदय** से होता है, इसलिए उसका न्यास वहीं किया जाता है और विनियोग का सम्बन्ध आपके पूरे व्यक्तित्व से है, इसलिए **सर्वाङ्ग** में उसका न्यास होता है। आगम अथवा तान्त्रिक परम्परा में इस मुख्य न्यासों में तीन न्यास और बढ़ाए गए हैं। उनका कहना है कि शरीर के अन्दर माता और पिता दोनों हैं, उनका ज्ञान भी होना चाहिए, इसलिए मन्त्र के बीज और शक्ति दोनों का ज्ञान आवश्यक है। **बीज** का न्यास **गुह्यदेश** में और **शक्ति** का **पादों** में किया जाता है।

ये बीज और शक्ति दोनों जिस माध्यम में एकीभूत होते हैं, उसका नाम है **कीलन।** गर्भावस्था में नाभि से ही बालक का जीवन आगे बढ़ता है, इसलिए कीलन तत्त्व का न्यास **नाभि** में होता है। ऋषि से लेकर कीलन पर्यन्त सात तत्त्व हैं, इनका न्यास मन्त्र का मुख्य न्यास है जिसे ऋष्यादिन्यास कहा जाता है। इसके साथ हृदयादि-अङ्गन्यास और करन्यास तो किसी भी मन्त्र के लिए अनिवार्य हैं। जो विशेष प्रयोग करते हैं, वे इसके अलावा भी बहुत-से न्यास करते हैं। न्यासों के द्वारा साधक देवकुल का हो जाता है। यही न्यास का बहुत बड़ा महत्व है।

*****

जिज्ञासा :- पूजा-उपासना में कुछ साधक कई प्रकार की मुद्राओं का प्रयोग करते हैं। इनका उपासना में क्या उपयोग और महत्व है?

समाधान :- मुद्रा शब्द **मुद्-हर्षे** तथा **द्रु-गतौ** धातुओं से बना है। **मोदयति द्रावयति इति मुद्रा।** जो इष्ट को प्रसन्न कर दे और उन्हें आकर्षित

करके अपनी ओर ले आए, वह मुद्रा कहलाती है। उपासना में देवता का आह्वान, स्थापन, रोधन इत्यादि सब मुद्राओं के द्वारा किए जाते हैं। मुद्रा का अपना विज्ञान है। व्यवहार में भी आप देखिए, मनुष्य जब साधारण रूप से बोलता है तो उसके हाथ की स्थिति कुछ अलग बनती है। जब झगड़ा करता है तो कुछ और बनती है तथा भाषण दे अथवा पढ़ाए, उस समय उसके हाथ और मुख आदि की मुद्रा अलग बन जाती है। ऋषियों ने इसका अनुसन्धान किया और इन शारीरिक स्थितियों को साधना के अनुकूल बनाने के लिए विभिन्न मुद्राओं का विकास किया।

इन मुद्राओं से विचारों का शोधन होता है। व्यवहार में भी कुर्सी पर बैठकर पैर हिलाना, बैठे-बैठे मुख से नाखून काटना, सिर को हिलाना इन सब बातों का निषेध किया जाता है। वह इसीलिए कि इनका सम्बन्ध मन की नकारात्मक वृत्तियों से है। उन वृत्तियों को बल न मिले इसलिए निषेध किया जाता है। इसी प्रकार मुद्राओं के द्वारा सकारात्मक वृत्तियों को पुष्ट किया जाता है। यह सब बहुत वैज्ञानिक चीज है, कोई अन्धविश्वास नहीं।

*****

जिज्ञासा :- क्या मुद्राओं द्वारा देवताओं का रोधन आदि करना उचित है?

समाधान :- जब न्यास आदि के द्वारा आप देवकुल के हो गए तो देवता से थोड़ा हठ भी कर सकते हैं। जैसे बालक पिता को रोक लेता है कि आप यहीं बैठो तो उसे बैठना पड़ता है। इसी प्रकार मुद्राओं से देवताओं को रोकने में कोई जबरदस्ती नहीं है, वहाँ तो एक अन्तरंगता है। पूजा के अङ्गरूप से कुछ देर के लिए देवता को रोकता है, ऐसा नहीं कि सदा के लिए उसको पकड़ लेता है।

*****

जिज्ञासा :- क्या न्यास-मुद्रा आदि की बहुलता से युक्त पूजा

की अपेक्षा सरल भाव से की गई पूजा श्रेष्ठ नहीं है?

समाधान :- न्यास और मुद्रा का एक विज्ञान है, ये उपासना के आवश्यक अङ्ग हैं, इनका खण्डन आप नहीं कर सकते। पूजा में भाव लाने के लिए ये न्यास आदि सहयोगी हैं। आपका जो भाव जगत् में बहुत जगह फैला हुआ है, वह कहने मात्र से देवता में नहीं लग जाएगा। न्यास आदि के द्वारा शास्त्र उस भाव को देवता से जोड़ने की प्रक्रिया बताता है। न्यास और मुद्रा आपके ममत्व को जगत् से तोड़कर भगवान् से सम्बन्धित करने के लिए महत्वपूर्ण साधन हैं। इनकी आवश्यकता सकाम प्रयोगों में तो अनिवार्य रूप से है, साथ ही निष्काम उपासना में भी इनका उपयोग है। रही बात सरल भाव से पूजा करने की, तो न्यास और मुद्रा भाव की सरलता को कम तो नहीं करते।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्र में चक्षु का अनुग्राहक देवता सूर्य को कहा है। ऐसे ही मन का अनुग्राहक देवता चन्द्रमा को बताया है। जैसे चक्षु सम्बन्धी रोग-निवृत्ति के लिए सूर्य की उपासना का विधान है, ऐसे ही मन को शुद्ध करने के लिए चन्द्रमा की उपासना का भी क्या कोई विधान है?

समाधान :- चन्द्रमा और मन इसी प्रकार सूर्य और चक्षु के मध्य उपास्य-उपासक का सम्बन्ध नहीं है। अनुग्राहक-अनुग्राह्य सम्बन्ध समझना चाहिए। अधिदैव सूर्य एवं चन्द्रमा के आधार पर अध्यात्म में चक्षु और मन में क्रमशः कार्य होता है। वैसे आगम शास्त्र में तो चन्द्रमा की कलाओं को लेकर मन-शुद्धि की तो क्या बात है, मोक्ष देनेवाली उपासना भी कही गई है। पर उस उपासना को अनुग्राहक और अनुग्राह्य को लेकर नहीं समझना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- भक्ति का स्वरूप कैसा होना चाहिए?

समाधान :- भक्ति को मुख्य रूप से तीन भागों में बाँटा जा सकता है। पहला - मैं भगवान् का हूँ। दूसरा - भगवान् मेरे हैं और तीसरा - मैं परब्रह्म हूँ। यह तीसरा सबसे उत्कृष्ट स्वरूप है। यहाँ पर भक्त की भगवान् से पृथकता नहीं रहती है। अर्थात् भगवान् के साथ तादात्म्य हो जाता है, पर यह साधारण व्यक्ति के लिए सहज नहीं है। साधारण व्यक्ति के लिए तो सहज यह है कि वह अपने को भगवान् का दास समझे और भगवान् की सेवा को अपना कर्तव्य समझे।

एक बात ध्यान में अवश्य रखे - यदि सेवा के बदले भगवान् से कुछ चाहता है तो वह सच्चा सेवक नहीं है। भागवत में प्रह्लादजी कहते हैं-

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् - (७.१०.४)

जो भक्त भगवान् से सेवा के बदले कुछ चाहता है - वह सेवक नहीं हो सकता, अपितु व्यापारी है। **अतः साधक को इस विषय में सावधान रहना चाहिए कि वह सेवक के स्थान पर कहीं व्यापारी न बन बैठे।**

*****

जिज्ञासा :- भगवद्भक्त को क्या भय नहीं लगता?

समाधान :- भगवद्भक्त को यदि कभी भय लगे भी तो वह उस समय संसारी लोगों के समान जगत् का आश्रय न लेकर भगवान् का ही आश्रय लेता है। एक बार एक भक्त भगवान् की कथा कर रहा था, उसी समय भूकम्प आ गया। लोग कथा सुनना छोड़कर बाहर भागे, पर कथावाचक आँख बन्द करके बैठ गया। कुछ समय पश्चात् जब भूकम्प शान्त हुआ तो लोगों ने आकर पूछा, 'महाराज, क्या आपको भय नहीं लगा?' वह बोला, 'भय तो मुझे भी लगा, जिस प्रकार आप सुरक्षित स्थान पर गए, उसी प्रकार मैं भी सुरक्षित स्थान पर गया। पर अन्तर इतना है कि आपको सुरक्षित स्थान बाहर लगा और मुझे भगवत्स्मरण सुरक्षित लगा, इसलिए मैं अपनी रक्षा के लिए

आँखें बन्द करके स्मरण करने लगा।

*****

जिज्ञासा :- कहते हैं भक्त को हानि-लाभ की चिन्ता नहीं होती। इसमें रहस्य क्या है?

समाधान :- लोक में भी आप देखते हैं किसी सेठ के यहाँ कोई मुनीम काम करता है, तो लाभ-हानि का सुख-दुःख जितना मालिक को होता है उतना मुनीम को नहीं होता। इसी प्रकार भक्त ने तो अपना सब कुछ परमात्मा को समर्पित कर दिया है, अब तो वह उसका मुनीम बनकर काम करता है। लाभ-हानि जो भी होती है वह परमात्मा की होगी। हाँ, वह मुनीम के समान अपने कर्तव्य में सावधान रहता है। यही रहस्य कि भक्त निश्चिन्त रहता है, उसका तो केवल परमात्मा से सम्बन्ध रह गया है। किसी वस्तु से सम्बन्ध है भी तो वह परमात्मा के माध्यम से है। जैसे मुनीम का सेठ के माध्यम से किसी वस्तु से सम्बन्ध बनता है।

*****

जिज्ञासा :- शुद्ध प्रेम किस प्रकार का होना चाहिए?

समाधान :- शुद्ध प्रेम का लक्षण है -

तत्सुखसुखित्वम् (नारदभक्तिसूत्र-२४)

जिससे प्रेम करता है, बस! उसी की प्रसन्नता के लिए चेष्टा होनी चाहिए। उसके बदले में उससे कुछ चाहना नहीं चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- उपासना के कितने भेद होते हैं? क्या सभी उपासनाएँ सबके लिए हो सकती हैं? अथवा अधिकार पर विचार करना पड़ता है?

समाधान :- उपासना के भेद बहुत प्रकार के होने पर भी मुख्य रूप से उन्हें तीन भागों में विभाजित किया है। **१) प्रतीकोपासना, २) सम्पद् -उपासना, तथा ३) अहंग्रहोपासना।**

प्रतीकोपासना - शास्त्र-निर्दिष्ट किसी वस्तु को प्रतीक बनाकर उसमें देवताबुद्धि रखकर पूजन करना **प्रतीकोपासना** कहलाता है। जैसे शालिग्राम में विष्णु का पूजन, नर्मदेश्वर का शिवबुद्धि से पूजन। यहाँ पत्थर दिखाई देता है, पर उसमें विष्णुबुद्धि या शिवबुद्धि करके लोग पूजन करते हैं। एक बात यहाँ विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि प्रतीक का चयन शास्त्रसम्मत ही होना चाहिए क्योंकि आप फल शास्त्रसम्मत ही चाहते हैं। नर्मदेश्वर में शिव-पूजन करना है तो वह पत्थर नर्मदा नदी का ही होना चाहिए। शालिग्राम में विष्णु का पूजन करना है तो वह पत्थर गण्डकी नदी (नेपाल में) का ही होना चाहिए। यहाँ मनमानी नहीं करनी चाहिए। हमारे यहाँ कण-कण में ब्रह्म है, इसलिए शास्त्रसम्मत किसी भी प्रतीक में परमात्मा की उपासना कर लेते हैं।

सम्पद्-उपासना - यहाँ पर प्रतीक में जिस देवता का आरोप करते हैं उसी देवता की वहाँ प्रधानता हो जाती है। इस उपासना में प्रतीक को देवता से पृथक् करके नहीं देखा जाता, अर्थात् उसकी साक्षात् देवतारूप में ही पूजा करते हैं। उस देवता के गुणों की सम्पत्ति (आरोप) उसमें कर लेते हैं। जैसे चन्द्रमा में महादेव की उपासना करना है तो भावना करनी पड़ती है कि महादेव ही चन्द्रमा बने हुए हैं। हाथ में त्रिशूल लिए हुए हैं, सिर पर जटाएँ हैं, नागों की माला धारण किए हुए हैं। यहाँ पर चन्द्रमा-भाव समाप्त हो जाता है, मात्र महादेव-भाव ही रह जाता है। ऐसी उपासना को सम्पद्-उपासना कहते हैं।

अहंग्रहोपासना - यहाँ पर उपासक जिस देवता की उपासना करता है, उसमें **मैं** की भावना करता है, वही मेरा स्वरूप है, ऐसी भावना करता है। यहाँ देवता के साथ उसकी पृथकता नहीं रहती। जैसे हिरण्यगर्भादि की उपासना के विषय में कहा है कि साधक उसका **स्व** के रूप में चिन्तन करता है।

*****

जिज्ञासा :- नवधाभक्ति में एक भाग चरणसेवा है। जब भगवान् के दर्शन ही नहीं हुए, तब चरणसेवा कैसे होगी?

समाधान :- दर्शन नहीं हुए तो कोई बात नहीं। भगवान् के रूप में माता, पिता, गुरु आपके सामने हैं। भगवद्बुद्धि से उनकी चरणसेवा करो, भगवान् की मूर्ति आपके सामने है, उसकी सेवा करो। भगवान् आपके सामने न होने पर भी आप भावना से उनकी सेवा कर सकते हो।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में विभिन्न प्रकार की तामस उपासनाएँ क्यों बताई गई हैं? इनसे क्या लाभ है?

समाधान :- शास्त्रों में बताई गई उपासनाओं का मूल उद्देश्य जीव को जगत् से हटाकर परमात्मा की ओर ही ले जाना है। चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से हो या परम्परा से। कुछ लोग सात्त्विक प्रकृति के होते हैं तो कुछ राजसी प्रकृति के भी होते हैं। उसी के अनुसार वे सात्त्विक और राजसी उपासना में प्रवृत्त हो जाते हैं। अनेक व्यक्ति तामस प्रकृति के हैं, उनका कल्याण कैसे होगा? उनके कल्याण के लिए ही शास्त्रों में तामस उपासनाएँ बताई गई हैं। वे सात्त्विक-राजस पूजन नहीं कर सकते, तामस पूजन ही कर सकते हैं, पर उसमें भी लग जाएँ तो धीरे-धीरे ऊपर उठ जाएँगे क्योंकि शास्त्र से जुड़ तो गए।

भारतीय परम्परा को समझने के लिए बहुत दिमाग चाहिए। यहाँ तो चोरों के लिए भी शास्त्र लिख दिया-**चौरशास्त्र**। उनके लिए भी नियम बनाए, गरीब के यहाँ चोरी नहीं कर सकते, ब्राह्मण के यहाँ चोरी नहीं कर सकते, अमुक दिन चोरी नहीं करना - ऐसे कई नियम हैं।

इसलिए आज भी कई डाकू गरीबों का संरक्षण करते हैं, गरीब कन्याओं का विवाह करवाते हैं, मन्दिर भी बनवाते हैं। ये सब भारतीय

परम्परा में ही हो सकता है। शास्त्र का तात्पर्य उन्हें चोरी से निवृत्त कराने में है, लगाने में नहीं क्योंकि लगे तो वे राग से हैं ही। जैसे कोई व्यक्ति बहुत झूठ बोलता है। एक साधु उसे कहता है - सोमवार का व्रत रखा करो, उस दिन झूठ नहीं बोलना। क्या उसका मतलब यह है कि और दिन झूठ बोला करो! नहीं, वह सोमवार को झूठ बोलना छोड़ देगा तब धीरे-धीरे उसे समझ में आएगा कि मैं एक दिन झूठ बोले बिना रह सकता हूँ तो और दिनों में भी रह सकता हूँ। जो व्यक्ति जहाँ है वहीं से उसे धीरे-धीरे ऊपर उठाने के लिए भारतीय परम्परा में तामस-पूजनादि सब उपाय कहे गए हैं।

*****

जिज्ञासा :- भगवान् की प्राप्ति के लिए कर्मकाण्ड ज्यादा जरूरी है या श्रद्धा-भक्ति?

समाधान :- कर्मकाण्ड अपनी जगह है और श्रद्धा-भक्ति अपनी जगह। जीवन में समय-समय पर सभी चीजों की जरूरत पड़ती है। जैसे आप कहें, भोजन जरूरी है या भजन? इसका उत्तर यही होगा कि दोनों ही आवश्यक हैं। आप जहाँ हैं वहाँ जो कर्तव्य प्राप्त है उसे करना उचित है बजाय उसे छोड़ने के। भगवान् भी कर्तव्य कर्म छोड़ने को नहीं कहते, अपितु उसके द्वारा अपनी उपासना करने को कहते हैं।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। (गीता-१८.४६)

कर्म का सम्बन्ध जगत् से करने पर वह कर्मकाण्ड हो सकता है, परन्तु उसका सम्बन्ध भगवान् से करने पर वही भक्ति बन जाता है। यदि आपके कर्मों का निमित्त भगवान् बन जाए तो आपकी सतत भक्ति होती रहेगी। इसलिए हमारी दृष्टि से कर्म, श्रद्धा और भक्ति सभी की आवश्यकता है।

*****

जिज्ञासा :- जन्म-मृत्यु के चक्र का मुख्य हेतु क्या है?

समाधान :- अपने वास्तविक स्वरूप का जो अज्ञान है वही जन्म-मरण के चक्र का मुख्य हेतु है। हमारे शुद्ध **मैं** में न जगत् है न कोई समस्या, पर उस **मैं** के साथ हम मन और शरीर को जोड़ देते हैं तो अनुभव होता है कि मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मेरा यह कर्तव्य है। साथ ही मन से अपने को मिलाने के कारण भोगों की इच्छा होती है। उसके लिए कर्म करना पड़ता है। कर्म और भोग के लिए सूक्ष्म और स्थूल शरीरों की आवश्यकता होती है। इसलिए जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहता है। जब ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है तो अपने स्वरूप का बोध हो जाता है। उस समय भोग की इच्छा समाप्त हो जाने से शरीर की आवश्यकता भी नहीं रहती। फिर यह चक्र सदा के लिए समाप्त हो जाता है। वेदान्त में इसी का नाम मोक्ष है।

*****

जिज्ञासा :- प्रवचनों में बार-बार अध्यात्म शब्द सुनते हैं, इसका क्या तात्पर्य है और इसे कैसे समझा जाए?

समाधान :- अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति है, **आत्मानम् अधिकृत्य - अध्यात्मम्।** अर्थात् आत्मा को आधार बनाकर जो भी क्रिया, भाव या विचार है उन सबका नाम अध्यात्म है। अब प्रश्न यह है कि आत्मा शब्द से आप किसे समझते हैं? शरीर को, इन्द्रियों को, मन को अथवा बुद्धि को। सामान्य लोग तो शरीर को ही आत्मा समझते हैं, **मैं** कहते ही शरीर ध्यान में आ जाता है। इसलिए अध्यात्म-विचार का प्रारम्भ शरीर से ही होगा। विचार करने से धीरे-धीरे पता लगेगा कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि आत्मा नहीं हो सकते। फिर आत्मा कौन है?

इस प्रश्न का उत्तर शास्त्र बताता है -

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यत्। वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।

(केन. उप.- १.२)

अर्थात् जो मन, वाणी, श्रोत्र, प्राण, बुद्धि सभी करणों को अपने-अपने कार्य की सामर्थ्य देनेवाला है, वही आत्मा है। उस आत्मा को मन, वाणी आदि विषय नहीं कर सकते। इस प्रकार आत्मा का विचार शरीर से प्रारम्भ होकर निर्विशेष तत्त्व तक, शुद्ध अहं तक जाता है। यह सारा विचार ही अध्यात्म कहलाता है। इस विचार के जो सहायक उपासना आदि हैं वे भी अध्यात्म शब्द से कहे जाते हैं।

*****

जिज्ञासा :- **मैं** के बारे में विचार करने का ठीक तरीका क्या है?

समाधान :- गीता में भगवान् ने कहा है -

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते...(१३.१)

हे अर्जुन! यह शरीर खेत है, खेत कभी किसान नहीं होता। इसलिए तू शरीर नहीं है। अर्जुन ने सोचा कि फिर खेत का मालिक मैं हूँ, तब कहा तुम इसके मालिक भी नहीं हो, मालिक तो भगवान् है। इस शरीर को भगवान् ने बनाया है, इसलिए इसका मालिक वही है। तुम्हें तो कुछ काल के लिए दे दिया है जिससे तुम अपना काम निकाल लो। जैसे कोई धनी व्यक्ति किसी दरिद्र को अपना खेत पट्टे पर दे दे जिससे वह गेहूँ पैदा करकेअपनी दरिद्रता दूर कर ले, ऐसे ही भगवान् ने यह खेत तुम्हें दिया है। शरीर को खेत इसलिए कहा कि इसमें जैसा बीज बोओगे वैसी फसल उगेगी। कबीरदासजी कहते हैं -

हमरे रामनाम धन खेती।

इस खेती में नफा बहुत है उपजत हीरा मोती।

वो कहते हैं - मैं भी रामनाम की खेती करता हूँ जिसमें लाभ ही लाभ

है। पूछा कि तुम्हारे पास बैल तो है नहीं, खेती कैसे करोगे? तब वे बोले -

ज्ञान ध्यान का बैल बनाकर जब चाहे तब जोती।

रामनाम के बीज पड़े हैं उपजत हीरा मोती।

तुम भी ऐसी खेती कर लो तो चाहे स्वर्ग या ब्रह्मलोक चले जाओ, चाहे मुक्ति प्राप्त कर लो। अर्जुन ने कहा मैं खेत भी नहीं हूँ, उसका मालिक भी नहीं हूँ, तो फिर मैं कौन हूँ? तब भगवान् ने कहा -

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः (१३.१)

इस क्षेत्र को जाननेवाले तुम हो। भगवान् ने सीधा गणित बता दिया, शरीर से लेकर सुख-दुःख, मन-इन्द्रिय और जितने भी विषय हैं इन सबको जो जाननेवाला है, वही मैं का अर्थ है।

मनुष्य शरीर मिला ही इसलिए है कि **मैं** के अर्थ का ठीक पता लगा लें। इतना सरल तरीका भगवान् ने बताया, फिर भी हम मैं को जान नहीं पाते। इसका कारण यही है कि हम लोग खाने-पीने आदि विषय भोग में ही लगे हैं। दुनिया भर की चीजें जानना चाहते हैं पर **मैं** का कुछ पता नहीं है। कहो कि विज्ञान से मैं को जान लेंगे, तो यह सम्भव नहीं। उसका विषय यह **(इदम्)** है, सूक्ष्म से सूक्ष्म यह का पता विज्ञान लगा रहा है, पर मैं उसका विषय है ही नहीं। तुम यदि ईमानदारी से **मैं** का अर्थ जानना चाहो तो जान सकते हो।

*****

जिज्ञासा :- प्राण की उत्पत्ति उपनिषदों में साक्षात् परमात्मा से बताई गई है। जबकि अनुभव में यह आता है कि प्राण और वायु एक ही चीज है क्योंकि वायु ही नासिका के द्वारा अन्दर जाने पर प्राण कहलाती है। फिर इनमें भेद कैसे हो सकता है?

समाधान :- प्राण और वायु एक ही चीज नहीं हैं। जब कोई व्यक्ति मर जाता है तो लोग कहते हैं कि इसके प्राण निकल गए। मरते समय सूक्ष्म शरीर

बाहर निकलता है और उसी का एक अङ्ग प्राण है। यदि प्राण और वायु एक ही होते तो मृत शरीर में किसी प्रकार हवा भर देने पर उसे जीवित हो जाना चाहिए था, पर ऐसा होता नहीं है क्योंकि प्राण तो सूक्ष्म शरीर का अङ्ग है, मात्र वायु नहीं।

प्राण और बाह्यवायु में सम्बन्ध अवश्य है। बाहर जो वायु है, वह प्राणों का अनुग्राहक है और प्राण अनुग्राह्य। बाह्यवायु से सम्बन्ध बने बिना, शक्ति मिले बिना शरीर में स्थित प्राण कार्य नहीं कर सकता। परन्तु ऐसा होने पर भी दोनों में भेद है। जहाँ प्राण की उत्पत्ति सीधे परमात्मा से कही जाती है, वहाँ प्राण का अर्थ हिरण्यगर्भ लेना पड़ता है।

*****

जिज्ञासा :- इस प्रपञ्च में सत्यत्वबुद्धि अत्यन्त दृढ़ हो गई है, इसे हटाने का कोई सरल उपाय बताइए।

समाधान :- पहले यह समझना चाहिए कि प्रपञ्च व्यावहारिक है पारमार्थिक नहीं। इसे समझे बिना प्रपञ्च का रहस्य आपको समझ में नहीं आएगा। जैसे आपके शरीर को लेकर आपका सारा व्यवहार चलता है। इस शरीर के नाम से ही बैंक-बैलेंस, खेती तथा घर सभी रहेगा। व्यवहार में यह एकदम सत्य मालूम पड़ता है, पर विचार करने से स्पष्ट हो जाएगा कि आप शरीर हो नहीं सकते। जब शरीर ही आप नहीं हैं तो फिर उससे होनेवाला व्यवहार वास्तविक कैसे हो सकता है! व्यावहारिक वस्तु पारमार्थिक हो, ऐसा कोई नियम नहीं है।

आप रोज स्वप्न में व्यवहार करते हैं, वह व्यवहार भी एकदम सच्चा मालूम पड़ता है। स्वप्न में भूख लगने पर उसी प्रकार का अनुभव होता है जैसा जाग्रत में। स्वप्न के भोजन से स्वप्नकाल में तो आपका पेट भी भर जाता है। पर इतने मात्र से स्वप्न सच्चा तो नहीं हो जाता। व्यवहार के लिए

सत्य वस्तु की कोई जरूरत नहीं है, वस्तु में सत्यत्वबुद्धि होने से व्यवहार चल जाता है। इन्हीं बातों को लेकर विचार करेंगे तो धीरे-धीरे समझ में आएगा कि सारा प्रपञ्च इसी प्रकार का है। सच्चा न होने पर भी इसमें भ्रम से सत्यत्वबुद्धि होने के कारण व्यवहार चल रहा है। इसका जो मूल कारण है वही पारमार्थिक सत्य है। जब व्यक्ति इस प्रकार से निरन्तर विचार में लगेगा और संसार के कारणतत्त्व में अपने मन को स्थिर करेगा तो प्रपञ्च में होनेवाली सत्यत्वबुद्धि निवृत्त हो सकती है।

*****

जिज्ञासा :- समदर्शन और समवर्तन में क्या अन्तर है? साधक को इनमें से किसे अपनाना चाहिए?

समाधान :- सभी प्राणियों में परमात्मदृष्टि होना समदर्शन है। गीता में कहा है -

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।(५.१८)

ब्राह्मण में, गाय में, कुत्ते में, चाण्डाल में अर्थात् सभी के भीतर एक परमात्मा ही समानरूप से विराजमान है, ऐसा ज्ञान **समदर्शन** है। चिमनी चाहे काली हो या साफ, उसके भीतर प्रकाश एक जैसा ही है। अभिव्यक्ति के साधन में भेद होने से प्रकाश में भेद दीखता है। इसी प्रकार सात्त्विक, राजस तामस सभी प्राणियों में परमात्मा एक रूप से स्थित है। गुणों के भेद से व्यवहार में भेद दीखने पर भी उनमें स्थित परमात्मा में कोई भेद नहीं है। सिद्ध में यह समदर्शन स्वाभाविक है, जबकि साधक ऐसी भावना करता है।

सबके साथ एक जैसा ही व्यवहार करना **समवर्तन** कहलाएगा। परन्तु व्यवहार में समवर्तन सम्भव ही नहीं है। घर का मुखिया सभी सदस्यों के प्रति समान भाव रख सकता है, परन्तु समान व्यवहार तो नहीं कर सकता। पत्नी

के साथ व्यवहार अलग है तो पुत्र के साथ कुछ दूसरा और पुत्री के साथ अलग ही व्यवहार होता है। घर में ब्राह्मण आए तो प्रणामपूर्वक उसे आसन पर बिठाकर बढ़िया भोजन दिया जाएगा, गाय के लिए भूसा ही देना पड़ेगा और यदि हाथी हो तो उसे गन्ना या पेड़ की डाल देनी पड़ेगी। ब्राह्मण, हाथी और गाय तीनों में एक ही ब्रह्म है, पर तीनों के सामने खाने के लिए भूसा रख दिया जाए तो यह व्यवहार में सम्भव नहीं। साधक की तो बात ही छोड़िए, सिद्ध भी ऐसा समवर्तन नहीं कर सकता। व्यवहार हमेशा भेद को लेकर होता है, वह सबके साथ समान नहीं हो सकता।

*****

जिज्ञासा :- मन की किस दशा को ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं, समझाने की कृपा करें।

समाधान :- जब तक विशिष्ट वृत्तियाँ हैं तब तक ब्रह्माकार या अखण्डाकार वृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उनमें खण्ड रहता ही है। जब मन विशिष्ट वृत्तियों से रहित हो जाए और निद्रा में भी न जाए, तो वह अधिष्ठानरूप हो जाएगा। जब मन किसी विशिष्ट को नहीं पकड़ेगा तो उसका अधिष्ठानरूप हो जाना स्वाभाविक ही है। मन का अधिष्ठान अपना स्वरूप ब्रह्म ही है। मन की इसी दशा को ब्रह्माकार वृत्ति कहा जाता है।

*****

जिज्ञासा :- क्या ज्ञान के अनन्तर भी अन्तःकरण की वृत्तियों का उत्कर्ष होता है?

समाधान :- मन की चरमवृत्ति ही ज्ञान है। एक बार ज्ञान होने पर उसमें कोई उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं हो सकता। परन्तु ज्ञानी के चित्त की भूमिकाओं में तो उत्कर्ष होता ही है। इसी को लेकर योगवाशिष्ठ आदि ग्रन्थों में चित्त की भूमिकाएँ बताई गई हैं। उनमें पहली भूमिका **शुभेच्छा है,**

आपके चित्त में शुभ इच्छा अर्थात् परमार्थविषयक इच्छा उत्पन्न हो जाए। यह इच्छा उत्कट होने पर आपका चित्त दूसरी भूमिका में पहुँचेगा। इसे कहते हैं - **विचारणा।**

विचारणा में आपका मन जगत् की नाशरूपता के, मिथ्यात्व के और अपने स्वरूप के विषय में विचार में लग जाएगा। मैं चेतन हूँ, असङ्ग हूँ, कार्य-करण के सुख-दुःख से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसा विचार जैसे-जैसे बढ़ेगा, वैसे-वैसे आपका मन दुबला होता जाएगा। जगत् के स्थूल विषयों को ग्रहण करते-करते मन मोटा हो गया है, उस मन से आप आत्मा जैसी सूक्ष्म वस्तु को नहीं समझ सकते। इसलिए विचार द्वारा मन को तनु करना पड़ेगा। स्वरूप का विचार करने पर विषयों से रस मिलना कम हो जाएगा तो मन धीरे-धीरे तनु हो जाएगा, अर्थात् उसकी अशुद्धि दूर होकर उसका वास्तविक स्वरूप अभिव्यक्त होता जाएगा। यही मन का तनु होना है। इसी को चित्त की **तनुमानसा** भूमिका कहते हैं।

आगे विचार की सघनता आने पर जब मन पूर्णरूप से कार्य-करण संघात के अभिमान को छोड़ देगा तो स्वरूप का बोध हो जाएगा। यह **सत्त्वापत्ति** नाम की चौथी भूमिका है, इसमें अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। इस भूमिका में पहुँचे साधक का फिर जन्म नहीं हो सकता। इसके बाद जब तक शरीर है, तब तक मन ऊपर ही उठेगा क्योंकि नीचे जाने का कोई हेतु नहीं है। राग-द्वेष आदि दोषों के कारण मन नीचे जाता था, पर वे सब तो अब बाधित हो जाते हैं।

इसलिए ज्ञानी के मन की भूमिकाओं में तारतम्य होगा, स्वरूप में कोई भूमिका नहीं होती। आत्मानिष्ठा का अभ्यास करते-करते उस ज्ञानी का मन धीरे-धीरे ऐसा हो जाएगा कि वह संसार को बिल्कुल भी पकड़ेगा ही नहीं। जैसे नाटककार पार्ट में सावधान रहता है, मैं स्त्री हूँ, ऐसा बोलता भी है

परन्तु उसकी बुद्धि उस पार्ट को बिल्कुल भी नहीं पकड़ती। जब मन व्यवहार करते हुए भी कहीं चिपके नहीं तो यह **असंसक्ति** भूमिका कहलाती है।

किसी ज्ञानी की मन की भूमिका प्रारब्ध-योगानुसार इसके भी आगे बढ़ सकती है। एक स्थिति ऐसी आएगी जब वह पूर्णतः उपराम हो जाएगा, जगत् की ओर से बेहोश हो जाएगा। इसे **पदार्थाभाविनी** भूमिका कहते हैं। ऐसा योगी दूसरे के द्वारा उठाए जाने पर कुछ देर के लिए जगत् की ओर उत्थित होता है। किसी-किसी बिरले ज्ञानी में जगत् विस्मरण की पराकाष्ठा आ जाती है, वह न स्वयं जगत् की ओर उत्थित होता है, न दूसरे के द्वारा जगाए जाने पर। केवल ईश्वरेच्छा से उसका शरीर प्रारब्ध पर्यन्त किसी प्रकार चलता रहता है। यह **तुरीया** भूमिका कहलाती है। इस प्रकार ज्ञान के बाद चित्त में उत्कर्ष हो सकता है।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में कहा जाता है कि स्वप्न की सृष्टि हमारा ही विलास है, परन्तु ऐसा लगता है कि स्वप्न देखने में जीव स्वतन्त्र नहीं है अन्यथा बुरे स्वप्न क्यों देखता? फिर स्वप्न-सृष्टि किसकी सृष्टि है?

समाधान :- स्वप्न-सृष्टि जीव की ही है। अपने मन को लेकर आप ही स्वप्न-सृष्टि करते हैं। श्रुति भी कहती है -

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति (प्रश्न.उप.-४.५)

यहाँ देव शब्द से मनोपाधिक जीव को कहा गया है। वही स्वप्न में अपनी महिमा का अनुभव करता है। जीव ही स्वप्न-सृष्टि बनाता है परन्तु माया से भूल जाता है कि मेरी सृष्टि है, इसलिए परेशान होता है। वहाँ सब कुछ आप ही बनते हैं, परन्तु एक कल्पित शरीर में अहं कर लेने के कारण बाकी स्वप्न-जगत् अपने से बाहर दीखता है। वहाँ अज्ञान के कारण अपने वैभव का अनुभव जीव नहीं कर पाता। स्वप्न देखने में हमारे संस्कार भी हेतु बनते हैं, इसलिए गलत

संस्कारों के कारण अनिष्ट स्वप्न भी देखने में आ जाते हैं। परन्तु इतने मात्र से ऐसा नहीं कह सकते कि स्वप्न हमारी सृष्टि नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- स्वरूप का ज्ञान तो एकरस ज्ञान है और जगत् नाना प्रकार का है, फिर स्वरूप के ज्ञान से सबका ज्ञान कैसे हो जाता है?

समाधान :- सर्वज्ञान का मतलब यही है कि स्वरूप का ज्ञान होने पर आपको जगत् के याथात्म्य का ज्ञान हो जाता है। स्वरूप-ज्ञान होने से सबके मन की बातों को आप जान लेंगे ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है। जान भी सकते हैं और नहीं भी क्योंकि उस ज्ञान का साधन दूसरा है, स्वरूप-ज्ञान नहीं। तपस्या, उपासना या योग के बल पर दूसरों के मन की बातों को अथवा संसार की बहुत-सी बातों को आप जान सकते हैं। ज्ञानी भी ये सब जाने यह कोई आवश्यक नहीं।

उसकी सर्वज्ञता का यही तात्पर्य है कि जगत् के उपादान तत्त्व को ठीक से जान लेने के कारण उसे कार्य के विषय में कोई संशय नहीं रहता, वह समझ लेता है कि यह सब उसी तत्त्व का नाम है, विकार है। जैसे जो सोने के तत्त्व को जानता है उसे नाना प्रकार के आभूषण दीखने पर भी सोना ही दीखता है। वह समझता है यह सब सोने का ही बदला हुआ नाम है। इसी प्रकार ज्ञानी को सारा जगत् एक आत्मा का विलास ही दीखता है।

*****

जिज्ञासा :- सांख्य-सिद्धान्त और वेदान्त-सिद्धान्त दोनों ही विचारपरक हैं। इन दोनों सिद्धान्तों में क्या मौलिक अन्तर है, कृपया समझाइए।

समाधान :- सांख्य-शास्त्र भी वेदान्त के समान ही पुरुष अर्थात् आत्मा को नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव मानता है, परन्तु पुरुष को अनेक

मानता है। उनका कहना है कि यदि एक ही पुरुष हो तो उसके मुक्त होने से सभी जीव मुक्त हो जाएँगे। संसार में एक ही समय कुछ व्यक्ति सुखी तो कुछ दुःखी दिखाई देते हैं, यदि सबकी आत्मा एक हो तो यह व्यवस्था कैसे बनेगी! इसलिए वे पुरुष को अनेक मानते हैं। वेदान्त के अनुसार जीवों की अनेकता औपाधिक है, वास्तविक नहीं। उपाधि से जीवात्मा अनेक हैं, परन्तु वस्तुतः एक ही आत्मा है।

सांख्य-सिद्धान्त में जैसे पुरुष स्वतन्त्र है, उसी प्रकार प्रकृति भी स्वतन्त्र है। परन्तु वेदान्त के मत में प्रकृति अथवा माया स्वतन्त्र नहीं है, अपितु ईश्वराधीन है। सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति में कर्तृत्व है और पुरुष में भोक्तृत्व। वे लोग ऐसा इसलिए मानते हैं क्योंकि क्रिया प्रकृति में ही देखी जाती है, पर भोग चेतन के बिना नहीं हो सकता। पंखे में क्रिया तो दीखती ही है, पर वहाँ चेतन न होने से भोग नहीं है। प्रकृति कर्त्री है इसलिए वही पुरुष को भोग भी देती है और मोक्ष भी। जब तक प्रकृति से अपने को अलग करके नहीं जानता, तब तक वह उस पुरुष को भोग देती रहती है। जब पुरुष प्रकृति से अपना विवेक कर लेता है, तो प्रकृति उसे भोग देना बन्द कर देती है। इस विवेक के बल पर पुरुष मुक्त हो जाता है।

वेदान्त के अनुसार कर्तृत्व-भोक्तृत्व न तो चेतन में सम्भव है और न ही प्रकृति में। जैसे पंखे में क्रिया होती है, परन्तु कर्तृत्व नहीं होता। उसी प्रकार प्रकृति में क्रिया हो सकती है, पर कर्तृत्व नहीं। पुरुष तो असङ्ग और निर्विकार है। इसलिए उसमें न कर्तृत्व होगा और न भोक्तृत्व। कर्तृत्व-भोक्तृत्व की प्रतीति चिज्जड़ ग्रन्थि अर्थात् अध्यास में होती है। जब पुरुष का प्रकृति के कार्य शरीर से तादात्म्य हो जाता है, तो उसमें होनेवाली क्रिया का वह अपने में आरोप कर लेता है, यही कर्तृत्व है। शरीर-मन के सुख-दुःख भोग का जब पुरुष में आरोप होता है तो भोक्तृत्व आ जाता है। यह दोनों सिद्धान्तों का बड़ा

अन्तर है।

सांख्य के अनुसार प्रकृति और जगत् नित्य हैं जबकि वेदान्त के अनुसार केवल आत्मा ही नित्यतत्त्व है। प्रकृति और जगत् मिथ्या हैं।

*****

जिज्ञासा :- जब कोई व्यक्ति कहता है - मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ इत्यादि, यहाँ पर मैं के कितने अर्थ हैं?

समाधान :- यहाँ पर **मैं** में स्थूल शरीर भी बैठा है, सूक्ष्म शरीर भी बैठा और कारण शरीर भी। इन्हीं तीनों को लेकर **मैं** का प्रयोग होता है, पर ये तीनों ही **मैं** के वास्तविक स्वरूप नहीं हैं। जब **मैं** की वास्तविक खोज होगी तो ये तीनों नहीं रहेंगे।

*****

जिज्ञासा :- शरीर में दीखनेवाली चेतनता को शरीर का धर्म न मानकर आत्मा का धर्म मानते हैं। ऐसा कैसे हो सकता है क्योंकि शरीर के बिना चेतनता का अनुभव अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता।

समाधान :- यह बात ठीक है कि चेतनता का अनुभव जहाँ अन्तःकरण है वहीं होता है और अन्तःकरण के लिए शरीर की आवश्यकता होती है। पर इससे यह निश्चय करना ठीक नहीं है कि चेतनता शरीर या अन्तःकरण का धर्म है। यदि कोई वस्तु प्रकाश की उपस्थिति में दिखाई दे, तो वह दर्शनरूप गुण वस्तु का ही होता है, न कि प्रकाश का। कई बार भ्रम भी हो सकता है, जैसे चन्द्रमा सूर्य का प्रकाश लेकर प्रकाशित हो रहा है, पर लगता ऐसा है कि वह स्वयंप्रकाश है। वस्तुतः चन्द्रमा में अपना कोई प्रकाश नहीं है। इसी प्रकार शरीर, अन्तःकरण इत्यादि के विषय में समझना चाहिए कि ये आत्मा की चेतनता से ही चेतन मालूम पड़ते हैं।

*****

जिज्ञासा :- आत्मा का अनुभव पहले युक्ति के द्वारा सिद्ध करके होता है अथवा उसका पहले अनुभव करके युक्ति के द्वारा सिद्ध किया जाता है?

समाधान :- पहले युक्ति से भेद का निराकरण करके तत्पश्चात् एक आत्मा का निर्णय करके **वही मैं हूँ** ऐसा अनुभव किया जाता है। पहले युक्ति के द्वारा यह सिद्ध हो जाए कि जगत् नश्वर है तो व्यवहार में बहुत बड़ा अन्तर आ जाता है। जो वस्तु आज दीख रही है, वह कल नहीं रहेगी। जब ऐसा निश्चय हो जाएगा तब व्यक्ति को समझ में आएगा कि नश्वरता तो जगत् का स्वभाव है। फिर वह किसी ऐसी वस्तु की खोज करेगा जो नश्वर नहीं है। इसके लिए शास्त्र में प्रक्रिया है कि पहले श्रद्धा से सुनकर उसे ग्रहण करे, फिर युक्ति लगाकर बुद्धि से समाधान करे। तीसरी कोटि में अनुभव होता है।

*****

जिज्ञासा :- किसी भी प्रवृत्ति के पीछे कामना होना आवश्यक है या अविद्या मात्र से प्रवृत्ति हो जाती है?

समाधान :- शास्त्र में एक क्रम है - **अविद्याकामकर्म।** अविद्या तो मूल में रहती ही है, इसके बिना तो कर्म हो ही नहीं सकता, पर दोनों के बीच में कामना भी रहती है। जो भी कर्म होगा उसके पीछे कहीं-न-कहीं काम का सम्बन्ध रहता ही है, बिना इसके तो कर्म नहीं हो सकता। शास्त्र का यही कथन है और अनुभव से भी यही लगता है। किसी भी प्रवृत्ति के पीछे एक संकल्प अवश्य होता है, इस बात को इसीसे समझ लेना चाहिए कि जो श्वास चल रहा है, इसके मूल में भी एक संकल्प है।

कई जगह ऐसी प्रवृत्ति भी देखी जाती है कि वहाँ तत्काल इच्छा नहीं दिखाई देती, पर मूल में रहती ही है। जैसे मानवरहित विमान चलता है उसमें तत्काल चालक दिखाई नहीं देता, पर उसका सम्बन्ध किसी दूसरी जगह से अवश्य ही रहता है। पर विमान में खोजो तो कैसे मिलेगा! इसी प्रकार अन्यत्र

भी कहीं-कहीं कर्म के पहले इच्छा नहीं दिखाई देती। जैसे प्राण चलता है तो वहाँ इच्छा का अनुभव नहीं होता, पर यहाँ भी मूल में इच्छा माननी ही पड़ती है। अतः प्रवृत्ति के पहले कहीं-न-कहीं इच्छा रहती ही है।

*****

जिज्ञासा :- परोक्षानुभूति शास्त्र पढ़ने मात्र से हो जाती है अथवा इसके लिए आगे भी कुछ प्रयास करना पड़ता है?

समाधान :- शास्त्र पढ़ने मात्र से काम नहीं होता, बल्कि पद-पदार्थ के ज्ञान के सहित उसको समझना पड़ता है। शास्त्र पढ़कर व्यक्ति को यह निश्चय होना चाहिए कि एक आत्मा ही सत्य है। ऐसा ज्ञान किसी भी तर्क के द्वारा विचलित नहीं होना चाहिए, तभी समझना चाहिए कि अब **परोक्षानुभूति** हुई है।

जब यह ज्ञान इस अनुभूति में बदलेगा कि जो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाववाला आत्मा है, वह मैं ही हूँ, तब **अपरोक्षानुभूति** समझना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- क्या वासनाओं से रहित होना ही मुक्ति है?

समाधान :- वासनाओं से रहित होने से मुक्ति होती है क्योंकि चित्त के अधिकतर भाग को वासना बाहर खींच कर रखती है, स्थिर नहीं होने देती है। जब तक चित्त स्थिर नहीं होता तब तक आत्मसाक्षात्कार का अनुभव नहीं होता। आत्मसाक्षात्कार को ही मुक्ति कहते हैं। अतः वासनाओं से रहित होना मुक्ति में हेतु मान सकते हैं, पर पूर्ण रूप से निर्वासनिक तो ज्ञान होने पर ही हो सकता है।

*****

जिज्ञासा :- ज्ञान और विज्ञान शब्द में क्या भेद है?

समाधान :- विज्ञान शब्द की लोक में प्रसिद्धि तो भौतिक विज्ञान,

रसायन विज्ञान इत्यादि में है, परन्तु यहाँ पर विज्ञान शब्द का अर्थ अनुभूति होता है। जैसे आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है, ऐसा किसी ने शास्त्र से भी जान लिया और विचार से भी सिद्ध कर लिया, पर उसका **मैं** के रूप में अनुभव नहीं हुआ, इसका नाम ज्ञान है। किन्तु इतने मात्र से इसकी विज्ञान-संज्ञा नहीं हो सकती। इसके लिए **मैं** कहते ही शरीर नहीं आना चाहिए, अर्थात् वह शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव आत्मा **मैं** हूँ, ऐसा निश्चय अन्दर से होना चाहिए। **तब समझो विज्ञान उत्पन्न हो गया।**

*****

जिज्ञासा :- नित्यदृष्टि और अनित्यदृष्टि क्या है?

समाधान :- भाष्यकार भगवान् ने एक जगह निर्णय किया है कि दृष्टियाँ दो होती हैं। एक नित्यदृष्टि और दूसरी **अनित्यदृष्टि।** इन्द्रियों के माध्यम से जो विषयों का ग्रहण होता है, वह अनित्यदृष्टि है और चिति (परमात्मा) की स्वरूपभूत जो दृष्टि है वह **नित्यदृष्टि** है।

*****

जिज्ञासा :- शरीर में जो चेतना दिखाई पड़ती है वह क्षेत्र के पक्ष में है या क्षेत्रज्ञ के?

समाधान :- शरीर में जो चेतना शब्द से प्रसिद्ध है, वह क्षेत्रपक्ष में ही है। वह मुख्य चेतन नहीं है क्योंकि हम लोग मन, प्राण इत्यादि लेकर ही चेतन-अचेतन का प्रयोग करते हैं। भाष्यकार भगवान् ने भी शरीर में अनुभूत होनेवाली चेतना का आधार मन और प्राण को ही माना है। अतः मन-प्राण को लेकर अनुभूत होनेवाली चेतना मन-प्राण के पक्ष में जाएगी और मन-प्राण क्षेत्र के पक्ष में है, इसलिए वह चेतना भी क्षेत्र के पक्ष में ही होगी। गीता में भी इच्छा, चेतना आदि को क्षेत्र का धर्म ही माना है।

*****

जिज्ञासा :- सत् और सत्ता में क्या भेद है?

समाधान :- सत् और सत्ता की धर्म और धर्मी के रूप में कल्पना करें तो कह सकते हैं - सत् में सत्ता रहती है। यद्यपि जो सद्ब्रह्म है, वह तो निर्विशेष है उसके लिए तो नहीं कह सकते कि उसमें सत्ता रहती है। नैय्यायिक लोग तो सत्ता को महाजाति मानते हैं, पर व्याकरणवाले लोग सत्ता को ब्रह्म का ही स्वरूप मानते हैं और उसे ब्रह्म की अभिन्न शक्तिरूप से स्वीकार करते हैं-

तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वार्थं च प्रचक्षते।

सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः।।

(वाक्यपदीय का.-३, जातिसमुद्देश-३४)

त्व और **तल्** प्रत्ययों के द्वारा शक्ति ही कही जाती है। इसलिए सत् में रहनेवाले धर्म को सत्ता कहते हैं। पर कभी-कभी त्व और तल् प्रत्यय धर्म के रूप में न होकर मूलार्थ में ही हो जाता है, जैसे देव और देवता। इसी प्रकार सत्ता को सत् का धर्म मानें तो उसका बाध हो सकता है क्योंकि ब्रह्म तो निर्विशेष है उसमें धर्म नहीं मान सकते।

*****

जिज्ञासा :- सत् कितने प्रकार के होते हैं? क्या इनका बाध हो सकता है?

समाधान :- सत् तीन प्रकार के होते हैं - **व्यावहारिक सत्,** जैसे जगत्। **प्रातिभासिक सत्**, जैसे रज्जु में सर्प और पारमार्थिक सत्, जैसे ब्रह्म। **पारमार्थिक सत्** का बाध नहीं होता, अन्य दोनों प्रकार के सत् का बाध हो सकता है।

*****

जिज्ञासा :- व्यावहारिक ज्ञान की अन्तिम सीमा कहाँ तक है?

समाधान :- स्वप्न की अन्तिम सीमा कहाँ तक है? जब तक जग न

जाए। अर्थात् जाग्रत का बोध न हो जाए तब तक ही स्वप्न की सीमा है। इसी प्रकार इस व्यावहारिक ज्ञान की भी सीमा तब तक ही है जब तक स्वरूप का बोध न हो जाए।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्र और गुरु के उपदेश भी इस मिथ्या जगत् के अन्तर्गत ही हैं, फिर इनके भी मिथ्या होने का प्रसंग आ जाएगा। यदि ये मिथ्या हुए, फिर सत्यस्वरूप आत्मज्ञान में हेतु कैसे बन सकते हैं?

समाधान :- हाँ, मिथ्या जगत् के अन्तर्गत होने से शास्त्र और गुरु के उपदेश को भी मिथ्या कह सकते हैं, पर इतना होने पर भी वे आत्मज्ञान को प्राप्त करवाने में समर्थ हैं, इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए। जैसे तुम कोई स्वप्न देख रहे हो और उसमें एकाएक किसी भययुक्त दृश्य – बाघ, साँप इत्यादि को देखकर जाग जाते हो, जो स्वप्न में दृश्य देखा, वह मिथ्या था या सत्य? उसे मिथ्या ही मानते हैं। यदि वह मिथ्या दृश्य आपको जगाने में हेतु हो सकता है तो गुरु और शास्त्र के उपदेश आत्मज्ञान प्राप्त करवाने में हेतु क्यों नहीं हो सकते!

*****

जिज्ञासा :- अन्वय-व्यतिरेक का क्या अर्थ है?

समाधान :- अन्वय शब्द का अर्थ होता है - रहना। व्यतिरेक शब्द का अर्थ है - अभाव। अन्वय शब्द का अर्थ सर्वत्र अनुगत होना भी होता है। जैसे आत्मा सर्वत्र अन्वित (व्याप्त) है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों में उसका अन्वय है। जाग्रत अवस्था में दो अवस्थाएँ नहीं हैं तो यह उन अवस्थाओं का व्यतिरेक हो गया। इसी प्रकार सब जगह समझ लेना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- कहा जाता है कि उत्क्रमण काल में जीव सविज्ञान होता है,

परन्तु उस समय करण-समुदाय तो लीन रहता है, फिर सविज्ञान कैसे होगा ?

समाधान :- जीव चेतन है, जड़ नहीं। इसलिए उत्क्रमण काल में भी वह सविज्ञान ही होगा। मन आदि करण तो उस समय लीन रहते हैं, इसलिए उनकी सहायता से होनेवाला विशेष ज्ञान उस समय नहीं होगा। परन्तु उसका स्वरूप तो सविज्ञान ही है। उपनिषदों में ऐसा भी वर्णन आता है कि जब जीव स्वर्ग पहुँचता है तो मार्ग में आहुतियाँ उसका **एहि! एहि!!** कहकर स्वागत करती हैं, इसलिए मानना पड़ता है कि उत्क्रमण काल में जीव को ज्ञान रहता है। दूसरी बात मृत्यु के समय करण लीन होने पर भी उत्क्रमण के ठीक पहले आगे मिलनेवाले शरीर को पकड़ लेता है, तभी पहला शरीर छोड़ता है। इसलिए जीव को वहाँ सविज्ञान कहा जाता है।

*****

जाग्रतस्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते।।

जिज्ञासा :- वेदान्त मत में ब्रह्माजी को भी जीव बताया गया है, क्या यह बात ठीक है ?

समाधान :- वेदान्त का कहना है कि जिसकी भी उत्पत्ति होती है वह जीव होता है। ब्रह्माजी की भी उत्पत्ति होती है इसलिए वे भी जीव हैं। पारमार्थिक दृष्टि से तो किसी जीव की उत्पत्ति होती ही नहीं, परन्तु उपाधि की उत्पत्ति से जीव की उत्पत्ति मानी जाती है। जो भी औपाधिक (उपाधिवाला) होगा, उसकी जीव संज्ञा हो जाती है। किसी की पशु संज्ञा, किसी की मनुष्य संज्ञा तो किसी की देवता संज्ञा हो जाती है। सूक्ष्मपञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति ईश्वर से होती है और वे ही ब्रह्माजी की उपाधि हैं। इनकी उत्पत्ति के बाद ही ब्रह्मा संज्ञा होती है। इसलिए औपाधिक उत्पत्ति होने से ब्रह्माजी भी जीव हुए। परन्तु उपाधि की श्रेष्ठता से अतिशय सामर्थ्यवाले होने के कारण उन्हें ईश्वरकोटि में माना जाता है।

*****

जिज्ञासा :- ब्रह्म निर्गुण है तो उसमें **एकोऽहं बहुस्याम्** यह संकल्प कहाँ से आ गया ? मुझे प्रतीत होता है कि ब्रह्म सगुण एवं विकासशील है। श्रुतियों में निर्गुण ब्रह्म की बात वैराग्य लाने मात्र के लिए कही गई है। कृपया इस विषय को स्पष्ट करें।

समाधान :- एक सरकार शब्द है। सरकार की मोहर से सब काम चल रहा है, जो सरकारी कर्मचारी हैं, वे सरकार नहीं हैं, उसके प्रतिनिधि हैं, उसके लिए काम कर रहे हैं। सारा काम सरकार से हो रहा है, पर सरकार खोजने से नहीं मिलती है। जो भी आधारभूत वस्तु होती है वह सामान्य रहती है, हमारा विषय नहीं बनती। इसी प्रकार कारण अत्यधिक सूक्ष्म होता है और

किसी का विषय नहीं बनता।

आप पहले अपने विषय में विचार कीजिए कि आप सगुण हैं या निर्गुण। यदि आप गुणों को जानते हैं तो उनसे पृथक् होंगे क्योंकि जो वस्तु जानी जाती है, उसे जाननेवाला उससे पृथक् होता है। यदि आप गुणों को जानते ही नहीं तो उनके अस्तित्व में प्रमाण ही क्या होगा, इसलिए मानना पड़ता है कि उन्हें आप जानते हैं। इस प्रकार आप गुणों से अलग ही सिद्ध होते हैं। जो आप दिखाई दे रहे हैं वह आप हैं नहीं और जो आप हैं वह दिखाई दे नहीं सकता। शरीर तो चिता पर जाएगा, वह आप नहीं हो सकते। पिताजी जब शरीर छोड़कर गए तो उनका फोटो आप नहीं ले पाए, इससे सिद्ध हुआ कि वे निराकार थे, फिर आप साकार कैसे होंगे? इस प्रकार विचार करते-करते पता लगता है कि हमारा वास्तविक रूप निर्गुण-निराकार है, इसलिए ब्रह्म का स्वरूप भी निर्गुण-निराकार ही होना चाहिए।

इसके बाद प्रश्न उठेगा कि जब सृष्टि के मूल में एक ही **निर्गुण-निराकार** तत्त्व है, फिर जगत् कहाँ से आया! जगतूरूप कार्य दीख रहा है तो उसके कारण का अन्वेषण होगा। दूसरा कोई कारण तो है नहीं, अतः उसी निर्गुण ब्रह्म में कारणता का आरोप होता है, तब उसका नाम हो जाता है - **सगुण-निराकार**। इसी का नाम ईश्वरतत्त्व है। **एकोऽहं बहुस्याम्** - इस मन्त्र में सगुण-निराकार की ही चर्चा है, परन्तु इसका भी स्वरूप निर्गुण-निराकार तत्त्व ही है। सविशेष का स्वरूप निर्विशेष ही होता है। जब तक आपको जगत् सत्यरूप से भान हो रहा है, तब तक निर्गुण तत्त्व में कारणता का आरोप बना रहेगा।

ईश्वर अपनी माया शक्ति से जगत् को उत्पन्न करता है, अतः यह मायिक है। मायिक का अर्थ ही होता है जो बिना उत्पन्न हुए दीखे। ऐसा विचार दृढ़ होने पर कार्य में दीखनेवाला सत्यत्व समाप्त हो जाएगा। कार्यकारण-अनन्यत्व का विचार करने पर भी कार्य का सत्यत्व खत्म हो

जाता है। कार्य न रहने पर आरोपित कारणता भी नहीं रहेगी। इस प्रकार **एकोऽहं ...** इस मन्त्र में कहे गए सगुण-निराकार (ईश्वर) का स्वरूप भी निर्गुण-निराकार ही सिद्ध होता है। इसलिए ब्रह्म पारमार्थिक रूप से सगुण नहीं है, वह निर्गुण-निराकार है यही परमार्थ सत्य है, केवल वैराग्य के लिए कही गई बात नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- बृहदारण्यक उपनिषद् में एक प्रकरण में हिरण्यगर्भ को संसारी (जीव) कहा गया है और उसमें हेतु दिया है उसका अशनाया-पिपासा (भूख-प्यास) से ग्रस्त होना। परन्तु वेदों में अनेक जगह हिरण्यगर्भ की उपासनाएँ कही गई हैं, इससे लगता है वह ईश्वरकोटि में है। उसे क्या मानें - ईश्वर या जीव?

समाधान :- बृहदारण्यक उपनिषद् के जिस प्रसंग में हिरण्यगर्भ को जीव कहा गया है वह यहाँ की (व्यष्टि की) दृष्टि से कहा है। हमारा सूक्ष्म शरीर उसी का अंशभूत है और हम सभी जीव अशनाया-पिपासा से ग्रस्त हैं। इस अंशदृष्टि को लेकर उसे जीव कह दिया गया है। जो हिरण्यगर्भ देवता है वह अशनाया-पिपासा से ग्रस्त नहीं है। वैदिक वाङ्मय में हिरण्यगर्भ से बड़ा ऐश्वर्य किसी का नहीं है, वह सत्यकाम, सत्यसंकल्प है तो वह भूख-प्यास से ग्रस्त कैसे होगा!

वेदों के अनुसार ईश्वर अव्यक्तात्मा है। उसका शासन तो शक्तिरूप से (अन्तर्यामीरूप से) ही सम्भव है, प्रकट शासन तो अभिव्यक्त दशा में ही होगा। ईश्वर की प्रथम अभिव्यक्ति हिरण्यगर्भ है, इसलिए शासक भी वही हुआ। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों का सर्वोत्कृष्ट प्राकट्य हिरण्यगर्भ में ही है। वही सर्वदेवतात्मा है, सारे देवता उसके अङ्गभूत हैं। वैदिक दृष्टि से विचार करने पर तो शिव, विष्णु आदि रूप भी हिरण्यगर्भ ही धारण करता है। पुराणों में शिव, विष्णु आदि को सीधे ईश्वर का सोपाधिक रूप बताया जाता

है। पर यह वर्णनमात्र का अन्तर है, तात्त्विक नहीं। ईश्वर का सगुण-साकाररूप हिरण्यगर्भ है और पुराणों के विष्णु-शिव आदि भी सगुण-साकार ही हैं। इसलिए कह सकते हैं कि ये हिरण्यगर्भ केही रूप हैं।

दूसरी बात समझना चाहिए कि वेदान्त का तात्पर्य एक अद्वितीय ब्रह्म को सिद्ध करने में है। इसलिए इन वर्णनों में कोई विरोध नहीं समझना चाहिए। हिरण्यगर्भ की अनेक उपासनाओं का उपनिषदों में वर्णन है, उपासना ईश्वर की होती है जीव की नहीं। इसलिए हिरण्यगर्भ को जीव नहीं, अपितु ईश्वरकोटि में ही मानना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- कठोपनिषद् का एक मन्त्र है -

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते।।

(कठ.उप.-२.२.४)

इस मन्त्र में देही अर्थात् आत्मा का शरीर से निकलना कहा गया है। आत्मा व्यापक है तो उसका निकलना या कहीं जाना कैसे सम्भव होगा?

समाधान :- शास्त्रों में आत्मा शब्द अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। कहीं शरीर के लिए, कहीं मन के लिए, कहीं जीव के लिए और कहीं परमात्मा के लिए भी आत्मा शब्द का प्रयोग दीखता है। कठोपनिषद् में यमराज ने नचिकेता को बताया कि जब व्यक्ति का शरीर मरता हुआ दीखता है तब यह तो निश्चित है कि उसमें से कुछ अलग हो जाता है क्योंकि मृत शरीर में चेतनता नहीं रहती। चेतनता के दो लक्षण हैं - **प्राण का चलना और ज्ञान का होना।** ये दोनों ही मृत शरीर में नहीं रहते।

जब हम कहते हैं कि बल्ब फ्यूज़ हो गया तो इसका अर्थ यही है कि विद्युत्गत प्रकाश को अभिव्यक्त करने की उसकी शक्ति खत्म हो गई,

उसका विद्युत् से सम्बन्ध टूट गया। इसी प्रकार जब शरीर मृतक होता है तब कोई सम्बन्ध तो उसका टूटता है तभी ज्ञान और प्राणन क्रियाएँ नहीं होतीं। ऐसा विचार करने पर जैसे बल्ब से विद्युत् अलग है ऐसे ही स्थूल-शरीर से जीवात्मा पृथक् सिद्ध हो जाता है।

सूक्ष्म शरीररूपी उपाधि को लेकर व्यापक आत्मा की जीवात्मा संज्ञा होती है। जीवात्मा में दो विभाग हैं, एक उपाधि विभाग अर्थात् कारणसहित सूक्ष्म शरीर और दूसरा अधिष्ठान विभाग अर्थात् व्यापक चेतन। जब कहते हैं कि शरीर से आत्मा निकल गया तो इसका अर्थ यही है कि सूक्ष्म शरीर इसमें से निकल जाता है। ऐसा होने पर इसमें जो चेतनता मालूम पड़ रही थी, जो जीवभाव था वह भी इससे से पृथक् हो जाता है। इस मन्त्र में भी सूक्ष्म शरीर उपाधिवाले जीवात्मा का ही शरीर से निकलना कहा गया है, व्यापक आत्मा का नहीं।

*****

जिज्ञासा :- प्रश्नोपनिषद् के ओंकार उपासना प्रकरण में कहा गया है-

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः।।(५.६)

यहाँ कहा गया ओंकार का ध्यान किस प्रकार करना होगा?

समाधान :- यहाँ त्रिमात्र ओंकार का भेदरूप से नहीं, बल्कि अभेदरूप से प्रतिपादन है। जैसे शिवमहिम्नःस्तोत्र में - **समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् (२७)**, एक व्यस्त ॐ और एक समस्त ॐ बताया। व्यस्त ॐ अपनी अलग-अलग अ, उ, म् इन मात्राओं के द्वारा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि त्रिपुटियों को वाचकरूप से बताता है और समस्त ॐ मिली हुई मात्राओं द्वारा तुरीय पद को लक्षित करता है। इसी प्रकार इस मन्त्र में भी कहा गया है कि अलग-अलग प्रयुक्त जो अ, उ, म् मात्राएँ हैं, वे मृत्युग्रस्त हैं। इसलिए उनकी उपासना का फल भी मृत्युग्रस्त ही होगा।

ये तीनों मात्राएँ जब एक-दूसरे में मिलकर समस्त ॐ के स्वरूप को धारण कर लेती हैं, तो तीनों वर्णों में भेद प्रतीति नहीं रहती। इसी बात को श्रुति ने बताया - **अन्योन्यसक्ताः**, अर्थात् ये तीनों मात्राएँ एक-दूसरे से मिली हुई प्रयोग की जाती हैं। साथ ही कहा - **अनविप्रयुक्ताः**, इस शब्द का अर्थ इस प्रकार लगाना पड़ेगा – **विशेषेणप्रयुक्ताः - विप्रयुक्ताः**, **न विप्रयुक्ताः - अविप्रयुक्ताः, न अविप्रयुक्ताः - अनविप्रयुक्ताः।** इसका अर्थ भी घूमकर विप्रयुक्ताः ही आएगा। दो नञ् (निषेध) के द्वारा निश्चित बता दिया कि विशेष रूप से प्रयुक्त ही ये मात्राएँ हैं। विशेष रूप से प्रयोग यही है कि इन मात्राओं का भेदरूप से प्रयोग न करके अभेदरूप से प्रयोग करना है। अर्थात् उपासक ॐ में अभेदरूप से परब्रह्म का ध्यान करेगा।

ऐसा ध्यान करनेवाले विद्वान् उपासक को मिलनेवाला फल बताया - **न कम्पते ज्ञः।** वह विद्वान् किसी भी स्थिति में विचलित नहीं होता है। इस उपासना से ऐसा फल क्यों होता है, इसे भी समझ लीजिए। आपके तुरीय स्वरूप में जाग्रतादि तीनों अवस्थाएँ कल्पित हैं। एक-एक अवस्था के अनुसार आपका नाम, दृश्य, भोग और तृप्ति, सभी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ये तीनों अवस्थाएँ कल्पित होने से मृत्युमती हैं।

परन्तु तीनों का अधिष्ठान जो तुरीय है, उसमें तीनों अवस्थाओं के घूमते रहने पर भी उसका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं बनता। अतः इनके सभी कार्यों और ज्ञानों से उसमें कोई विचलन नहीं होता। ॐ की तीन मात्राएँ भी तीन अवस्थाओं की वाचक होने से मृत्युमती हैं, पर जब ये मिलकर अभेद रूप से प्रयुक्त होती हैं तो ऐसे अधिष्ठान में पहुँच जाती हैं जहाँ कोई विचलन नहीं है। ऐसे ॐ का ध्यान करनेवाला भी उसी अधिष्ठान में पहुँच जाता है। इसलिए बाह्य, आभ्यन्तर, मध्यम (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) सभी क्रियाओं के होते हुए भी उसमें कोई विचलन नहीं आता। **न कम्पते ज्ञः**, यह फल बतानेवाला वाक्य ही ज्ञापक है कि इस मन्त्र में ॐ का प्रतिपादन अभेदरूप से किया गया है।

*****

जिज्ञासा :- ब्रह्मसूत्र में प्राणों का लय जीव में बताया गया है, परन्तु प्राण और मन सहित चिदाभास तथा सामान्य चेतन इस समुदाय का नाम ही जीव है। फिर प्राणों का जीव में लय कैसे होगा? आगे प्राणसम्पृक्त जीव का लय भूतों में बताया गया है, यह कैसे सम्भव होगा?

समाधान :- प्राण धारण करने से ही चेतन की जीव संज्ञा होती है - **जीव प्राणधारणे।** प्राण जीव के लिए होते हैं। यहाँ कार्य-कारण भाव का लय नहीं है। जैसे मृत्यु के समय अनुग्राहक देवता का अनुग्रह छूट जाने से कहा जाता है कि इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं। उस समय इन्द्रियाँ नष्ट नहीं होतीं, परन्तु अनुग्रह के अभाव में कार्य नहीं कर सकतीं - यही उनका मन में लय है। मन भी कार्य बन्द करने पर प्राण के साथ एकीभूत हो जाता है। प्राण जीव के लिए है, इसलिए उसका तादात्म्य जीव के साथ ही होगा।

सामान्य चेतन में तो कोई समस्या है नहीं, पर प्राण और मन को लेकर चिदाभास में समस्या है - यही चिदाभास जीव है। उसी के लिए प्राण, मन, इन्द्रियाँ सभी होते हैं। जब शरीर छोड़कर जाना है तो ये सब जीव में लीन होकर ही जाएँगे क्योंकि उसी के लिए उनकी सारी प्रवृत्तियाँ होती हैं। जीव के कर्मों के अनुसार ही इन सबका उत्क्रमण है। अतः उत्क्रमण में प्रधानता जीव की है, यही इस प्रसङ्ग का तात्पर्य है, कार्य-कारण भाव का लय यहाँ नहीं कहा गया। जैसे आप सोते हैं तो इन्द्रियाँ मन में और मन प्राण में लीन होता है।

प्राणसम्पृक्त जीव सूक्ष्म शरीर से युक्त चिदाभास ही है। सूक्ष्म शरीर शक्तिरूप है, बिना स्थूल आधार के बिखर जाएगा। इसलिए उत्क्रमण काल में भी इसे कोई आधार चाहिए। छान्दोग्योपनिषद् की पञ्चाग्नि विद्या की एक श्रुति के आधार पर मानते हैं कि स्थूल पञ्चभूतों का जो सूक्ष्म भाग है वह भूतसूक्ष्म है। उत्क्रमण काल में सूक्ष्म शरीर भूतसूक्ष्म का आश्रय लेकर ही जाता है। यह भूतसूक्ष्म ही भावी शरीर का उपादान कारण बनता है।

प्राणसम्पृक्त जीव भूतसूक्ष्म के आश्रित होकर ही शरीरान्तर में जाता है, यही जीव के भूतों में लय का तात्पर्य है।

*****

जिज्ञासा :- आप प्रवचन में कभी-कभी कहते हैं कि वेदान्त के अनुसार ब्रह्म से अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है। यह वेदान्त के अनुसार कहने का क्या तात्पर्य है? क्या ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ वास्तव में है?

समाधान :- ऐसा इसलिए कहना पड़ता है क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकार के दर्शन हैं। उन्होंने जगत् के विषय में अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अलग-अलग विचार बना रखे हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि दर्शनवाले लोग तो अपनी बुद्धि के अनुसार शास्त्र का अर्थ करते हैं। वे लोग जगत् को सत्य मानते हैं, परन्तु वेदान्त के अनुसार कहा जाता है - **एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।** अर्थात् एक ब्रह्म की ही सत्ता है और उसी सत्ता से सभी सत्तावान हैं। ब्रह्म से अलग करके जगत् सत्य नहीं है। वेद सीधे शब्दों में इसी अर्थ का प्रतिपादन करता है। अन्य दर्शनवाले इसका अर्थ बदलते हैं, इसलिए उन्हें अपनी बुद्धि से बहुत खींचातानी करनी पड़ती है।

वेदान्त और अन्य दर्शनों में यही अन्तर है कि वेदान्ती शास्त्र में कही बातों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेता है जबकि अन्य लोग अपनी बुद्धि के अनुसार शास्त्र के अर्थ को लगाते हैं। इसीलिए कहना पड़ता है कि वेदान्त के अनुसार ब्रह्म से अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है। अन्य लोग भेदवादी हैं, वे तो अनेक सत्ताएँ स्वीकार करते हैं। परन्तु उनके स्वीकार करने मात्र से अनेक सत्ताएँ हैं ऐसा नहीं होता। वेदान्त वेद का अन्तिम भाग है, वह जो कहता है वही वस्तुस्थिति है।

*****

जिज्ञासा :- बृहदारण्यक उपनिषद् में पाण्डित्य, बाल्य और मौन के विषय में चर्चा आती है। टीकाकार लोग इनका अर्थ श्रवण, मनन और

निदिध्यासन करते हैं, परन्तु भाष्य का ऐसा तात्पर्य नहीं दीखता। आपने अपने चिन्तन से इस विषय में जो निश्चय किया है उसे बताने की कृपा करें।

समाधान :- वहाँ कहा गया है -

ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्... (३.५.१)

लोग उपनिषद् पढ़ते हैं, उनका अर्थ भी समझते हैं, परन्तु यदि सदसद्विवेकिनी बुद्धि उत्पन्न नहीं हुई तो वह पाण्डित्य कच्चा है। पण्डा शब्द का अर्थ है - सद्-असद्विवेकिनी बुद्धि। जब आप ठीक समझ लेंगे कि सत्य क्या है और असत्य क्या, तभी आपका मन असत्य से हटेगा। इसके बाद ही आपमें वैराग्य आएगा। इसलिए भाष्यकार ने कहा -

एषणाव्युत्थानावसानमेव हि तत्पाण्डित्यम्।

एषणामतिरस्कृत्य न हि आत्मविषयस्य पाण्डितस्य उद्भवः।

इसलिए जिसमें एषणाओं का पूर्ण त्याग हो गया, वही पण्डित है। यह एषणा परित्याग वही व्यक्ति कर पाएगा जिसका जीवन धर्म पर खड़ा हो, जिसकी हर प्रवृत्ति शास्त्रदृष्टि से होती हो, राग-द्वेष से नहीं। अभी ऐसे पण्डित में अपरोक्ष ज्ञान नहीं है, परन्तु उसने शास्त्र से आत्मा के विषय में जान लिया है। शास्त्र से ही समझा - **नास्त्यकृतः कृतेन**, कर्मों का फल जो भी होगा, वह अनित्य ही होगा। एक आत्मा ही नित्य वस्तु है, ऐसा पक्का ज्ञान उसे शास्त्र-श्रवण से ही हुआ है। इस आत्मज्ञान के बल पर ही उसमें एषणा-तिरस्कार की शक्ति आती है। अतः पाण्डित्य का पूर्ण वैराग्य से सम्बन्ध है। इसके बाद ही व्यक्ति संन्यास का अधिकारी बनता है।

इस प्रकार का पाण्डित्य सम्पादन करने के बाद व्यक्ति का वास्तविक श्रवण-मनन शुरू होता है। वह श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु से श्रवण करता है। उस श्रवण से वेदान्त-प्रमाण के विषय में जितना भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म संशय हो सकता है, वह निवृत्त हो जाएगा क्योंकि उपदेष्टा में अनुभूति है और शिष्य श्रद्धा एवं वैराग्य से सम्पन्न है। इससे उसका ज्ञानबल परिपुष्ट

होगा। आगे मनन करने से उसके प्रमेय-विषयक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म संशय निवृत्त होकर प्रमेय (ब्रह्मैकत्व) की झलक उसे मिल जाएगी। इसी को कहा **ज्ञानबलभावेन बाल्येन तिष्ठासेत् -** अर्थात् सम्पूर्ण संसार का बल छूटकर साधक के पास केवल ज्ञान का बल रह जाता है। इस ज्ञान के बल पर ही उसमें जगत् का तिरस्कार करने की शक्ति आती है।

साधन और फल का आश्रय ही अज्ञानियों का बल है। वे यही सोचते हैं कि हम यह साधन करेंगे तो उससे अमुक फल प्राप्त हो जाएगा। परन्तु इस बल को छोड़कर विद्वान् पण्डित-**असाधनफल स्वरूपात्मविज्ञानमेव बलम् -** जो साधन एवं फलरूप नहीं है ऐसे आत्मविज्ञानरूपी बल का ही आश्रय लेता है - यही **बाल्यभाव** है। ऐसा भाव आने पर उसकी अहंता हमेशा दबकर काम करेगी। उसके जीवन में ज्ञान ही प्रधान होगा जिससे राग-द्वेष नहीं आएँगे। जैसे बालक सहज-सरल होता है, वैसे ही वह सरल हो जाता है। इससे साधक का ज्ञान परिपुष्ट और संशयरहित होगा तथा वह अनात्मविषयक दृष्टि का तिरस्कार करता रहेगा। मेरी दृष्टि से बाल्यभाव का सम्बन्ध श्रवण-मनन दोनों से है क्योंकि श्रवण-मनन से ज्ञान पुष्ट होने पर जगत् के संस्कारों का तिरस्कार करने की शक्ति आएगी।

अब साधक निदिध्यासन में लगेगा। निदिध्यासन ध्यान से शुरू होकर समाधि पर्यन्त जाता है। इसमें पहले प्रयासपूर्वक विचार होता है, परन्तु बाद में नहीं। साधक ने श्रवण-मनन के द्वारा आत्मविषयक निस्सन्दिग्ध ज्ञान का निर्धारण किया है और उसी ज्ञान के बल पर वह जगत् की भावना तथा अनात्मचिन्तन का तिरस्कार करता है। यह तिरस्कार करते-करते साधक उस ज्ञान में आरूढ़ हो जाएगा, उसे तत्त्व का अनुभव हो जाएगा। आरूढ़ होने पर उसका प्रयत्न समाप्त हो गया, यही मौन है, यही निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था है, यही कृतकृत्यता है। इसलिए मौन और निदिध्यासन एक ही हुए।

यहाँ एक सूक्ष्म बात है कि पाण्डित्य के बल से जो वासनाओं का त्याग होता है वह निर्मूल तो तभी होगा जब अपरोक्ष आत्मज्ञान होगा। इसलिए युगपत अभ्यास करना पड़ता है। इस मन्त्र में जब **पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्** कहा तब आगे कहना चाहिए था - **बाल्यं निर्विद्य मुनिर्भवति**, परन्तु श्रुति कहती है - **बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य अथ मुनिः।** सभी पर्यायों में दो को साथ कहा है। आगे भी कहा- **अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः (बृ.उप.-३.५.१)।** अमौन अर्थात् पाण्डित्य और बाल्य, इन दोनों के सहित मौन। यह ब्राह्मण का लक्षण बता दिया। यहाँ तीनों को साथ कहने में एक रहस्य है, श्रुति बता रही है कि ज्ञानी के जीवन में एषणा परित्याग पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है ऐसा नहीं है कि ज्ञान होने के बाद वह एषणा से प्रवृत्त हो जाएगा। साथ ही नात्मप्रत्यय तिरस्कार भी उसमें लक्षित है। ज्ञान के बाद भी यदि पूर्व-संस्कारों से अनात्मवृत्ति आती है, तो वह उसका तिरस्कार कर देता है। साथ ही अद्वैत भाव में स्थिति भी उसमें लक्षित है। यह तीनों जिसमें एक साथ रहें, वही ब्राह्मण है, वही कृतकृत्य है।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्म किसी का भी विषय नहीं बनता है, फिर ब्रह्मचिन्तन किस प्रकार करें?

समाधान :- यदि तुम्हें ऐसा लगता है तो ब्रह्मचिन्तन मत करो, आत्मचिन्तन करो। अपने को खोजो कि तुम क्या हो। ब्रह्मचिन्तन में क्या रखा है! तुम जान भी लोगे कि ब्रह्म शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है, तो इससे क्या बनना-बिगड़ना है। हाँ, जिस दिन तुमको अनुभव हो जाएगा कि **मैं** शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव हूँ उस दिन तुम्हें लाभ होगा। तुम **मैं** का अर्थ खोजने में लगो। यदि अहंकार से लेकर शरीर तक मैं नहीं हूँ तो फिर **मैं** का अर्थ क्या है! क्या तुम **मैं** को विषय बना सकते हो? **मैं** यदि विषय बन गया तो उसे कौन

देखेगा! इसलिए **मैं** कभी-भी विषय नहीं बन सकता। साथ ही **मैं** अज्ञात है ऐसा भी नहीं कह सकते। तुम्हारा कर्तव्य यही है कि बुद्धि से लेकर शरीर पर्यन्त की जो **मैं** के साथ मिलावट है, उसे दूर करो। यही साधक का सबसे बड़ा काम है। सब ब्रह्म को ही परेशान करने में लगे हुए हैं, तुम तो ब्रह्म का पिण्ड छोड़ो। **मैं** को ही समझने का प्रयास करो कि किस प्रकार वह ज्ञात भी है और अज्ञात भी।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में एक ओर तो कहा गया है - **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह,** अर्थात् आत्मा मन-वाणी का विषय नहीं है। दूसरी ओर यह भी कहा गया है - **मनसैवानुद्रष्टव्यं ...** अर्थात् आत्मा को मन से ही जाना जाता है। इन वाक्यों का समन्वय कैसे होगा?

समाधान :- आत्मा मन का विषय नहीं है, यह बात ठीक है, परन्तु बिना मन के उसे कैसे जानोगे? क्या सुषुप्ति में जानोगे? यह तो सम्भव नहीं है। उपनिषद् में मन्त्र आता है -

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः (कठ उप.-१.३.१२)

आत्मदर्शन के लिए पहले आपको सूक्ष्मदर्शी बनना पड़ेगा, स्थूल पदार्थों को देखने का जो स्वभाव बन गया है, इसे छोड़कर सभी जगह अनुस्यूत जो सूक्ष्म तत्त्व है, उसे देखने का स्वभाव बनाना पड़ेगा। आपकी बुद्धि चित्र को न पकड़कर पर्देमें लगनी चाहिए। आभूषण के चक्र में न पड़कर बुद्धि को केवल सोने में केन्द्रित हो जाना चाहिए।

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्..(छा.उप.-६.१.४)

जितने भी कार्य दीख रहे हैं, सभी असत् हैं, केवल कारण ही सत्य है। कारण हमेशा सूक्ष्म होता है, उसी में हमारी बुद्धि केन्द्रित होनी चाहिए। जब आपकी बुद्धि कारण को पकड़नेवाली बन जाएगी तब आत्मदर्शन के

लिए और अधिक सूक्ष्मता का अभ्यास करना पड़ेगा क्योंकि आत्मतत्त्व कार्य-कारण भाव से भी परे है। आपकी बुद्धि **अग्र्या** अर्थात् कारण का भी जो अधिष्ठान तत्त्व है उसे लक्षित करने में सक्षम होनी चाहिए। ऐसी बुद्धि से ही आत्मदर्शन सम्भव है।

आत्मज्ञान के लिए आपकी मनोवृत्ति का ब्रह्माकार होना आवश्यक है क्योंकि ब्रह्मविषयक अज्ञान आपको ध्वस्त करना है। ऐसी वृत्ति के लिए आपका मन बहुत शुद्ध होना चाहिए। बिना शुद्ध मन के अज्ञान ध्वस्त नहीं होगा। परन्तु स्वरूप के प्रकाश के लिए मन की आवश्यकता नहीं है। वृत्ति-व्याप्ति की अपेक्षा है, परन्तु फलव्याप्ति की नहीं क्योंकि आपका स्वरूप स्वयंप्रकाश है। इसीसे समझ लेना चाहिए कि शास्त्र के दोनों वाक्यों में कोई विरोध नहीं है। एक वाक्य वृत्तिव्याप्ति के लिए शुद्ध मन की आवश्यकता को बताता है तो दूसरा हमें समझाता है कि आत्मा का ज्ञान मन के प्रकाश से नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है।

*****

जिज्ञासा :- माण्डूक्यकारिका के अनुसार तत्त्व-अग्रहण ही अज्ञान है। यह अग्रहण अभावरूप होगा, फिर इससे अन्यथा-ग्रहण की उत्पत्ति कैसे होगी? वहाँ तुरीय में अग्रहण अर्थात् अज्ञान का अभाव बताया है, परन्तु कई जगह शास्त्र में तुरीय को ही अज्ञान का आश्रय कहा है -

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला...

(सं.शारीरक-१.३२९)

इस विरोधाभास का समाधान करें।

समाधान :- अग्रहण ही अन्यथा-ग्रहण का कारण है क्योंकि उसके बिना अन्यथा-ग्रहण कहीं दीख नहीं सकता। रज्जु का अग्रहण होने पर ही अन्यथा-ग्रहण (सर्प) की प्रतीति होती है। यदि अग्रहण अभावरूप हो तो वह अन्यथा-ग्रहण का कारण नहीं बन सकता। इसलिए उसे भावरूप मानना ही

पड़ता है। दूसरी बात यह है कि वेदान्त में आप अज्ञान को भाव या अभाव मानने की चाहे जितनी कल्पना कर लीजिए, अधिष्ठान तो भावरूप ही है। सब जगह उसकी भावरूपता व्याप्त हो जाती है। यह भावरूपता अग्रहण में भी रहेगी इसलिए उससे किसी के उत्पन्न होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं दीखता। यदि कहो कि तब तो आकाशकुसुम को भी भावरूप मानेंगे तो ऐसा नहीं है क्योंकि वह किसी अधिष्ठान में कल्पित नहीं है।

अज्ञान का आश्रय तो तुरीय ही है क्योंकि सारे विश्व को वही आश्रय दे रहा है। पर आश्रय बनने पर भी वह अज्ञानी नहीं है। इसी दृष्टि से माण्डूक्य में तुरीय में अग्रहण का अभाव बताया है।

*****

जिज्ञासा :- जगत् को ब्रह्म में न कहकर ब्रह्म जगत् में है, ऐसा कहें तो क्या आपत्ति है?

समाधान :- सूत कपड़े में है कि कपड़ा सूत में है, रस्सी सर्प में है कि सर्प रस्सी में! यदि कपड़े में सूत मानें तो कपड़ा बनने से पहले सूत कहाँ था? अतः सूत में ही कपड़ा मानना पड़ेगा एवं रस्सी में ही सर्प क्योंकि कल्पित वस्तु अधिष्ठान में माननी पड़ती है। अधिष्ठान कल्पित में कैसे हो सकता है! इसी प्रकार कल्पित जगत् को अधिष्ठानरूप ब्रह्म में ही मानना पड़ता है।

*****

जिज्ञासा :- वेदान्त मतानुसार तुरीय तीनों अवस्थाओं में अनुस्यूत है। ऐसे में हम किसी भी अवस्था में रहें वहाँ अधिष्ठानरूप में तो तुरीय रहेगा ही। फिर भी उसका अनुभव तो किसी को होता नहीं। ऐसा क्यों?

समाधान :- तुरीय तीनों अवस्थाओं में अनुस्यूत रहता है, यह निर्विवाद रूप से सत्य है। ऐसा होने पर भी उसकी अनुभूति न होने में कारण यह है कि जैसे किसी एक चित्र में आप केन्द्रित होते हैं तो भी वहाँ पर पर्दा रहता ही है, अन्तर इतना है कि चित्र में केन्द्रित होने पर वहाँ परिच्छिन्नता

(भेद) रहती है। सम्पूर्ण चित्रों का अनुभव नहीं होता। अब आप किसी एक चित्र को छोड़कर पर्देमें केन्द्रित हो जाइए तो सम्पूर्ण चित्रों का आपसे सम्बन्ध बन जाएगा। इसी प्रकार तीन अवस्थाएँ (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति) चित्र के समान हैं। एक में केन्द्रित होने पर अन्य से सम्बन्ध नहीं रहेगा। ऐसी दशा में भेद बना ही रहता है। पर यदि आप पर्दा दशा अधिष्ठानस्वरूप तुरीय में केन्द्रित हो जाएँ तो चित्रस्वरूप तीनों अवस्थाओं में अपनी व्याप्ति का अनुभव कर लेंगे।

*****

जिज्ञासा :- वेदान्त ग्रन्थों में कहा जाता है कि ईश्वर की दृष्टि में जगत् है ही नहीं। जब ऐसा है तो ईश्वर जगत् की सृष्टि करते हैं, यह कहने का क्या अर्थ हुआ?

समाधान :- देखिए, शास्त्र कहता है कि ईश्वर जगत् का सर्जन, पालन और संहार करता है। बिना दृष्टि में रहे, बिना ज्ञान के तो यह सब वह कर नहीं सकता। इसलिए उसकी दृष्टि में जगत् रहता तो है पर उसकी दृष्टि और हमारी दृष्टि में अन्तर है। मान लो, कोई व्यक्ति स्वप्न देख रहा है और आपको उसके स्वप्न का सर्वज्ञ बना दें। वह सपने में जंगल में भटक गया है, पाँच दिन से भूखा है, बड़े कष्ट झेल रहा है। अपनी स्वप्नसृष्टि उसे दीख रही है और आपको भी, ऐसा होने पर भी दोनों की दृष्टियों में अन्तर हुआ या नहीं! वह तो बहुत कष्ट का अनुभव कर रहा है, दुःखी हो रहा है, पर आपको तो हँसी आएगी। इसीलिए आएगी कि आप जान रहे हैं वहाँ कोई समस्या है ही नहीं, फिर भी यह व्यक्ति दुःखी हो रहा है। वह व्यक्ति अपनी सृष्टि को सत्य मानकर दुःखी हो रहा है और आपकी दृष्टि में वह सृष्टि दीख तो रही है पर वास्तव में है नहीं।

ठीक यही बात जगत् के विषय में अज्ञानी जीव और ईश्वर के लिए समझना चाहिए। अज्ञानी जगत् को एकदम सत्य मानता है जबकि ईश्वर इसे

मिथ्या समझता है। ईश्वर में ज्ञान नित्य रहता है, किसी भी क्षण उसका लोप नहीं होता। ईश्वर को सृष्टि दीखती है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। परन्तु जिस प्रकार से जीव को दीखती है उस प्रकार से नहीं दीखती, बल्कि वास्तविकता दीखती है।

*****

जिज्ञासा :- यह जगत् मायिक है तो इतना व्यवस्थित क्यों दीखता है?

समाधान :- यह व्यवस्थित इसलिए है क्योंकि ईश्वर ने इसे व्यवस्थित करके रखा है, यह उसी की सामर्थ्य है। कितनी विलक्षण व्यवस्था है उसकी कि बच्चा उत्पन्न होने के पहले माता के स्तन में दूध बन जाता है। उससे पहले क्यों नहीं बनता! ईश्वर सर्वज्ञ है, बच्चे की जीवन-रक्षा पर उसकी दृष्टि है। इतने व्यक्ति जगत् में हैं पर एक का चेहरा दूसरे से नहीं मिलता। आप कुछ भी खा लेते हैं, उसमें से स्थूल भाग बाहर चला जाता है, बाकी से रस, रक्त, माँस, अस्थि, मज्जा और शुक्र बन जाता है, यह ईश्वर की ही व्यवस्था है।

आज विज्ञान को ही देख लीजिए, कैसे-कैसे विलक्षण यन्त्र बन गये हैं। अन्तरिक्ष में उपग्रह घूमते हैं, वैज्ञानिक यहीं से **रिमोट कन्ट्रोल** से उनका नियन्त्रण कर लेते हैं। यह चेतन की ही सामर्थ्य है, जड़-यन्त्र अपने आप नहीं चलता। आज विज्ञान का कार्य देखकर हम लोग हैरान रह जाते हैं। जब अल्पज्ञ चेतन की इतनी विलक्षण सामर्थ्य आप देख रहे हैं तो उस सर्वज्ञ ईश्वर की सामर्थ्य के विषय में क्या सोचना है! उस सर्वज्ञ के शासन में ही यह जगत् व्यवस्थित रहता है।

*****

जिज्ञासा :- वेदान्त-शास्त्राभ्यास अष्टमी और प्रतिपदा को नहीं कराया जाता। इसका क्या हेतु है? क्या इन दिनों में वेदान्त-चिन्तन भी नहीं करना चाहिए?

समाधान :- गुरु-शिष्य के सम्बन्ध से जो अध्ययन होता है उसके लिए यह निषेध है। परन्तु वेदान्त-चिन्तन के लिए तो शास्त्र कभी मना नहीं करता है, वह तो निरन्तर करना ही चाहिए। शास्त्र भी कहता है–

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया। (योगवासिष्ठ)

जो नियमित रूप से गुरु-शिष्य के सम्बन्ध से पठन-पाठन होता है वह नहीं करना चाहिए। यह निषेध बतानेवाला जो शास्त्र का वचन है उसे वैसे ही मान लेना चाहिए उसमें संशय नहीं करना चाहिए। शास्त्र कहता है - **प्रतिपत् पाठनाशिनी** - अर्थात् प्रतिपदा को पढ़ने से पाठ याद नहीं रहता। अब कोई कहे कि इस बात को हम नहीं मानते, हम तो प्रतिपदा को पढ़ें तो भी कुछ नहीं भूलता, सब याद रहता है। उसे हम यही कहेंगे कि तुम रहस्य को नहीं समझ सकते। लोक में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध हो जाने पर पुत्र तो उत्पन्न हो ही जाता है, परन्तु शास्त्रानुसार विवाहित धर्मपत्नी से जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसकी बराबरी वह कर सकता है क्या!

ऐसे ही तुम अपनी बुद्धि से पढ़कर जो प्राप्त करोगे उस विद्या से कोई संस्कार उत्पन्न नहीं होंगे, वह बलहीन होगी। गुरु के पास बैठकर जब आप नियमानुसार श्रवण करेंगे तो आपके अन्दर एक संस्कारित विद्या उत्पन्न होगी। स्वयं पढ़ी विद्या तो आपको अहंकारी बनाएगी जबकि गुरु से प्राप्त विद्या आपमें नम्रता पैदा करेगी - **विद्या ददाति विनयम्।**

गुरु-शिष्य का जो स्वाध्याय है वह शास्त्रीय अनुज्ञा को लेकर है इसलिए इस विषय में शास्त्र जो नियम बताता है उन्हें वैसे ही मानना चाहिए। यह जो पाठ बन्द रखने की व्यवस्था है, बहुत व्यावहारिक भी है। जब हम पढ़ते थे तब व्याकरण का पाठ तो त्रयोदशी से प्रतिपदा तक बन्द रहता था, अन्य पाठों में भी पक्ष में तीन दिन अवकाश रहता था। उस समय विद्यार्थी लोग परस्पर पाठ का विचार करते थे। प्रतिपदा को पठन-पाठन पूर्णतः छोड़कर अपने अन्य काम किया करते थे। इस प्रकार अवकाश के समय में

विचार करने के लिए अवसर मिल जाता था जिससे पढ़ी हुई विद्या पक्की हो जाती थी। यह हमारा स्वयं का अनुभव है।

*****

जिज्ञासा :- सुषुप्ति से उठने के बाद जो ज्ञान होता है, 'मैं सुख से सोया, मैंने कुछ नहीं जाना' इसे वेदान्तशास्त्र में स्मृति माना जाता है। जब सुषुप्ति में न तो अन्तःकरण रहता है और न काल तो वहाँ अनुभव कैसे होगा जिसकी बाद में स्मृति हो? क्या यह ज्ञान केवल विकल्परूप है?

समाधान :- इन सब बातों पर तर्क से नहीं बल्कि अनुभव से विचार करना चाहिए। श्रुति प्रत्यक्ष है, ऋषियों का अनुभव है। श्रुति में जो जाग्रदादि अवस्थाओं की चर्चा है वह आपकी ही कथा है, इसलिए इसे हमेशा अनुभव से ही समझना चाहिए। परन्तु हम लोग देहाध्यास और बुद्धिवाद के कारण इसे भी **इदम्** की चर्चा मानकर समझना चाहते हैं। इसीलिए तत्त्व का ग्रहण नहीं होता। श्रुति तो इन अवस्थाओं के विचार के माध्यम से आपको स्वरूप का बोध कराना चाहती है।

जाग्रत अवस्था में आपको इन्द्रियों के माध्यम से घटादि पदार्थों का ज्ञान होता है। **अयं घटः -** यह ज्ञान मनोवृत्तिरूप होता है। यह घटज्ञान फिर आपसे प्रकाशित होता है जिसे वेदान्त में साक्षिभास्य कहते हैं। शान्त जगह में आप बैठे हैं, आपके मन में एक संकल्प उठता है, वह तुरन्त प्रकाशित हो जाता है। यह प्रकाशन आपसे ही होता है। आप अर्थात् साक्षी, इस साक्षी से होनेवाले ज्ञान की बाद में आपको स्मृति भी होती है। वेदान्त के अनुसार स्वप्न का ज्ञान भी साक्षिभास्य है क्योंकि मन तो वहाँ दृश्य बन गया है, कोई करण तो वहाँ रहा नहीं, इसलिए मानना पड़ता है कि स्वप्न-दृश्यों का ज्ञान साक्षी से ही होता है। स्वप्न की हमें स्मृति होती है यह निर्विवाद है, इसलिए साक्षिभास्य ज्ञान की स्मृति नहीं होती, ऐसा नहीं कह सकते।

साक्षी तो आप ही हैं, इसलिए ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता कि

साक्षिभास्य को हम कैसे जानेंगे! जब आपका स्वरूप मन को प्रकाशित कर रहा है तो मन के अभाव को भी प्रकाशित करेगा। सुषुप्ति में मन पर आवरण है, परन्तु आपपर तो आवरण नहीं है, इसलिए वहाँ मन के अभाव को भी साक्षी प्रकाशित कर ही सकता है। सुषुप्ति में आप कालादि का अभाव भले ही मान लें, परन्तु अपना अभाव नहीं कह सकते। कुछ न जानना, यह मनोवृत्त्यात्मक ज्ञान का अभाव है, इसका प्रकाशन भी साक्षी से होता है। कहो कि वहाँ ज्ञान होता है ऐसा भान क्यों नहीं होता? तो वह इसलिए कि ज्ञान शब्द से हम विशिष्ट ज्ञान (वृत्त्यात्मक ज्ञान) को ही समझते हैं। उस ज्ञान के लिए उपाधि की आवश्यकता है जो सुषुप्ति में नहीं है। परन्तु वहाँ ज्ञान ही नहीं है, ऐसी बात नहीं है। जब सुषुप्ति में साक्षी को अनुभव हुआ तब जाग्रत काल में उसकी स्मृति भी आपको होगी क्योंकि आप ही साक्षी हैं।

सुषुप्ति में सुख का अनुभव जाग्रत सुखानुभव जैसा नहीं है। वह आयासरहित (परिश्रमरहित) दशा है यही वहाँ का सुख है। जाग्रत और स्वप्न में परिश्रम होने के कारण वहाँ क्लेश बना ही रहता है, परन्तु सुषुप्ति में ऐसा नहीं है। सुख आपका स्वरूप है और उसका नजदीक से अनुभव सुषुप्ति में ही होता है क्योंकि वहाँ कोई विक्षेप नहीं है। जब सुषुप्ति में साक्षी को सुख का अनुभव होता है तो उसकी स्मृति में भी कोई समस्या नहीं दीखती। हमारी दृष्टि से तो वेदान्त-ग्रन्थों में 'मैं सुख से सोया, मैंने कुछ नहीं जाना', सोकर उठने पर होनेवाले इस ज्ञान को जो स्मृतिरूप माना गया है, वह ठीक ही दीखता है।

*****

जिज्ञासा :- बृहदारण्यक उपनिषद् में कहे गए नित्यदृष्टि, नित्यश्रुति आदि का क्या तात्पर्य है? क्या यह माया से भिन्न परमात्मा की कोई शक्ति है?

समाधान :- विद्युत से बल्ब में प्रकाश हो रहा है, यह नित्यप्रकाश नहीं है। उपाधि के कारण है इसलिए अनित्य है, पर यह प्रकाश विद्युत में है या

नहीं? विद्युत में प्रकाश है और वह नित्य है अन्यथा बल्ब में कैसे आता! अन्तर इतना है कि विद्युत में अभिव्यक्त नहीं है जबकि बल्ब में उपाधि होने से प्रकाश अभिव्यक्त हो जाता है। बल्ब को प्रकाश विद्युत से ही मिल रहा है, परन्तु प्रकाश का जो रूप विद्युत में है, वह ऐसा नहीं है जैसा हमें बल्ब में दीखता है। इसी प्रकार साक्षी-प्रकाश और मन आदि से होनेवाले प्रकाश में महान् अन्तर है।

भगवान् भाष्यकार ने भाष्य में जगह-जगह कहा है कि श्रोत्रादि इन्द्रियों के सम्बन्ध से होनेवाले जो श्रुति, दृष्टि, विज्ञप्ति आदि वृत्ति ज्ञान है, वे अनित्य हैं, औपाधिक हैं क्योंकि वे उपकरण के माध्यम से होते हैं। आत्मा में जो चेतनता अर्थात् ज्ञानरूपता है, वह नित्य है। वही चेतनता श्रोत्रादि करणों के द्वारा अनित्य श्रुति, दृष्टि आदि के रूप में प्रकट होती है। आत्मा की चेतनता ही नित्यश्रुति, नित्यदृष्टि है और वेदान्त के अनुसार वह चेतनता आत्मा का स्वरूप ही है। केनोपनिषद् में **केनेषितं पतति प्रेषितं मनः... (१.१)** - मन्त्र के द्वारा इन्द्रिय ज्ञान और प्रवृत्तियों के मूल को जब पूछा गया तो उत्तर में स्वरूप (आत्मा) को ही बताया गया।

आगमग्रन्थों में इस चेतनता को शक्ति मानते हैं, वहाँ भी शिव और शक्ति में अभेद ही माना गया है। यदि आप कहें कि विद्युत में जो प्रकाश का रूप है उसे हम समझ नहीं पाते तो ऐसा इसलिए होता है कि विद्युत **इदम्** है, आपसे भिन्न है, जबकि साक्षी आपका **अहम्** है, **इदम्** नहीं। इसलिए साक्षी में जो दृष्टि, श्रुति आदि हैं उन्हें आप समझ सकते हैं क्योंकि आप ही साक्षी हैं।

माया सृष्टि के लिए है, सारी सृष्टि मायिक ही है। इसका स्वतः अस्तित्व नहीं है, यह स्वरूप में कल्पित है। इसके द्वारा सारा व्यवहार होता है, परन्तु यह स्वरूपभूता शक्ति नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- अपरोक्ष ज्ञान के लिए निदिध्यासन क्यों आवश्यक है? सजातीय वृत्ति का प्रवाह और विजातीय प्रत्यय का तिरस्कार, क्या यही इसका स्वरूप है?

समाधान :- आपने किसी ग्रन्थ में पढ़ लिया कि सत्य बोलना चाहिए। पढ़ तो लिया पर उसे कोई विशेष महत्व नहीं दिया, सोचते हैं कि व्यवहार में थोड़ा झूठ बोलना ही पड़ता है। पर शास्त्र को देखेंगे तो वहाँ पहला उपदेश यही है - **सत्यं वद।** इसके बाद कहा गया है - **धर्मं चर।** तब विचार होता है कि सत्य यदि सामान्य होता तो **धर्मं चर** से ही काम हो जाता, परन्तु अलग से **सत्यं वद** कहा है। इसका अर्थ है कि शास्त्र सत्य को बहुत महत्वपूर्ण मानता है। जब आप इस प्रकार पूर्वापर का विचार करेंगे तब आपके मन में यह पक्का होगा कि सत्य बोलना ही चाहिए। मनन करते-करते आपको सत्य का महत्व निःसन्दिग्ध रूप से बुद्धिस्थ हो जाएगा। पर अभी-भी आप सत्य पर आरूढ़ नहीं हैं, संस्कारवश कभी झूठ भी बोल देते हैं। जिस दिन आप सत्य पर आरूढ़ हो जाएँगे, कभी भूल से भी झूठ नहीं बोलेंगे, उस दिन सत्य -सम्बन्धी निदिध्यासन पूरा हो जाएगा।

इसी प्रकार आप वेदान्तवाक्यों का श्रवण करते हैं तो आपको स्वरूप के विषय में ज्ञान होता है कि मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव हूँ। मनन के द्वारा इस ज्ञान को निःसन्दिग्ध करते हैं, परन्तु अनेक प्रतिबन्ध रहते हैं जिनके कारण आप इस ज्ञान में आरूढ़ नहीं हो पाते। मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव हूँ, ऐसी अनुभूति नहीं हो पाती। बुद्धि में निर्णय होने और आरूढ़ होने के बीच जो प्रयास है वह निदिध्यासन है। यह अनुभूति के प्रतिबन्धों को हटाने के लिए आवश्यक है। निदिध्यासनरूप प्रयास की परिसमाप्ति होने पर आप मनन द्वारा किए गए निश्चय में आरूढ़ हो जाते हैं। निदिध्यासन एक निष्ठा है अर्थात् मनन से स्वरूप के विषय में जो निर्णय किया, तन्निष्ठ (उसमें स्थित) हो जाना ही मुख्य निदिध्यासन है। प्रतिबन्ध दूर

करने के लिए जो प्रयास है वह इसमें सहायक होता है।

अहं ब्रह्मास्मि - इस वाक्य को शास्त्र से सुनकर इसकी आवृत्ति अर्थात् सजातीय वृत्ति का प्रवाह करना उपासना है, निदिध्यासन नहीं। निदिध्यासन में सम्पूर्ण अनात्म वृत्तियों का तिरस्कार तो रहेगा, परन्तु अनुभूति में प्रतिबन्ध अनेक प्रकार के हो सकते हैं। अतः उनकी निवृत्ति मात्र सजातीय वृत्ति के प्रवाह से होगी, ऐसा नहीं कह सकते।

*****

जिज्ञासा :- माया किसकी कल्पना है?

समाधान :- जब माया को अनादि मानते हैं तो किसने कल्पना की और कब की यह प्रश्न नहीं किया जा सकता।

*****

जिज्ञासा :- माया, अविद्या, प्रकृति इन्हें कहीं अलग-अलग करके कहते हैं और कहीं एक करके। इसमें से ठीक बात क्या है?

समाधान :- वस्तुतः तीनों एक ही हैं, परन्तु कार्य को लेकर अलग-अलग नाम से कह देते हैं। एक ही शक्ति का **आवरण करने की प्रधानता** को लेकर अविद्या नाम पड़ता है, जो स्वरूप का आवरण करे वह - **अविद्या।** उसी शक्ति को विक्षेप-प्रधानता से माया नाम से कहते हैं। माया वही है जो भेद को पैदा करे, वञ्चना अर्थात् ठगी करे। जैसे लोक में भी किसी ठगी करनेवाले पुरुष के बारे में कहते हैं कि वह बड़ा **मायावी** है, वह बड़ा **अविद्यावान्** है, ऐसा नहीं कहते। जब सृष्टि करनेवाली शक्ति के रूप से कहते हैं तो उसी शक्ति का नाम **प्रकृति** हो जाता है। जो महत्तत्त्व, पञ्चभूत आदि तत्त्वों को उत्पन्न करनेवाली शक्ति है, वह प्रकृति है। कार्य के अनुसार इन शब्दों का अलग-अलग प्रयोग किया जाता है। यह कल्पित है, इसलिए स्वतः इसकी सत्ता नहीं है।

वस्तुतः वेदान्त का लक्ष्य माया आदि को सिद्ध करना नहीं है, अपितु एकमेवाद्वितीय तत्त्व को सिद्ध करना है। इसलिए माया, अविद्या, प्रकृति इनका कभी अलग करके तो कभी एक करके भी वर्णन कर दिया जाता है। जब सृष्टि हुई है तो उसका कोई कारण तो होगा, इसी के लिए वेदान्त में माया को स्वीकार किया गया है। समझना यही है कि जगत् माया से बना है इसलिए मायिक है। मायिक का अर्थ होता है जो दीखे पर वास्तव में न हो। इसलिए जगत् वास्तविक नहीं है, यह समझाना ही शास्त्र का लक्ष्य है।

*****

जिज्ञासा :- वेदान्त-ग्रन्थों में अधिष्ठान और आधार इन दो शब्दों की चर्चा आती है। लोक में तो इनका अर्थ एक ही समझा जाता है। क्या वेदान्त में इन शब्दों के अर्थ में कोई अन्तर है?

समाधान :- जहाँ कोई भ्रम होता है, वहाँ इन दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है। किसी भी भ्रम में दो भाग होते हैं। एक सामान्य अंश और दूसरा विशेष अंश। जैसे आपको अनुभव हुआ - **अयं सर्पः** अर्थात् जो हमें सामने दिखाई दे रहा है वह पदार्थ सर्प है। तभी कोई व्यक्ति आकर कहता है यह सर्प नहीं, रस्सी है, आपको रस्सी में सर्प का भ्रम हुआ है। रस्सी का जो **यह** अंश है वह भ्रम ज्ञान में भी भासित होता है और यथार्थ ज्ञान में भी। **यह** सामान्य अंश है। इसी को **आधार** शब्द से कहा जाता है। विशेष अंश है रस्सी, जिसकी भ्रम में प्रतीति नहीं होती, इसी को **अधिष्ठान** कहते हैं।

इसी प्रकार ब्रह्म या आत्मा का जो सामान्य अंश अर्थात् सत् अंश है, उसकी तो अज्ञानी जीवों को भी प्रतीति होती है। यह हमारे भ्रम ज्ञान का आधार अंश है। ब्रह्म का जो विशेष अंश है **चित्** और **आनन्द,** इसकी प्रतीति अज्ञान काल में नहीं होती, यही अधिष्ठान है। जब इस अधिष्ठान अंश का ज्ञान हमें होता है तो अज्ञान और भ्रम का नाश हो जाता है।

*****

जिज्ञासा :- माण्डूक्य उपनिषद् के **नान्तः प्रज्ञं ...(७)** इस मन्त्र में कहे गए **एकात्मप्रत्ययसारम्** इस शब्द का क्या तात्पर्य है?

समाधान :- यह मन्त्र सभी उपाधियों से रहित तुरीय तत्त्व का कथन करता है। इस उपाधिरहित दशा में एक आप ही हैं, दूसरा कुछ नहीं। **अहम्** अर्थात् **मैं,** यही एक ज्ञान है क्योंकि कभी-भी कोई अपना अभाव नहीं देख सकता। यह **अहम्** का जो ज्ञान है वह आत्मा का ही ज्ञान है। इसलिए इस स्थिति को **एकात्मप्रत्ययसारम्** ऐसा कहा गया है।

*****

जिज्ञासा :- वेदान्त शास्त्र में ब्रह्म को जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण कहने का क्या मतलब है?

समाधान :- संसार में आप कोई भी चीज बनाते हैं तो वहाँ उपादान-कारण की भी आवश्यकता पड़ती है और निमित्त की भी। घड़ा बनाना है तो वहाँ उपादान है मिट्टी और निमित्त है कुम्हार। परन्तु जब परमात्मा ने जगत् बनाया तो उसके लिए परमाणु आदि कुछ भी उपादान नहीं लिया और न ही उससे भिन्न कोई निमित्त वहाँ था। परमात्मा की **एकोऽहं बहुस्याम्** इस इच्छा मात्र से सारा जगत् बन जाता है। इसीलिए उसे अभिन्न-निमित्तोपादान कारण कहा जाता है।

*****

जिज्ञासा :- सर्वज्ञ ब्रह्म अपने स्वरूप को कैसे भूल गया?

समाधान :- मैंने अभी ब्रह्म से पूछा तो उसने कहा - मैं तो अपने को कभी भूला ही नहीं हूँ। दर्पण से पूछा तुम्हारे अन्दर प्रतिबिम्ब कहाँ से आ गया? तो वह कहता है मेरे अन्दर कोई प्रतिबिम्ब आज तक आया ही नहीं। मैं तो ठोस हूँ, मुझमें प्रतिबिम्ब कहाँ से आएगा! अरे! छोटी-सी बात है तुम जब सोते हो तो तुम्हारा सारा ज्ञान कैसे गायब हो जाता है! सब पढ़े-लिखे हो

तब भी ज्ञान कैसे गायब होता है! जैसे निद्रा में किसी उपाधि से तुम्हारा ज्ञान गायब हो गया ऐसी प्रतीति होती है, वैसे ही उपाधि को लेकर ब्रह्म अपने स्वरूप को भूल गया, ऐसी प्रतीति हो सकती है। आगमशास्त्र के अनुसार जीवरूप से यह भूलना भी उसका स्वातन्त्र्य है। ब्रह्मरूप से तो वह अपने स्वरूप में ही स्थित है।

*****

जिज्ञासा :- क्या सभी जीवों के भूतसूक्ष्म एक समान होते हैं?

समाधान :- भूतसूक्ष्म सभी जीवों के एक समान होने पर भी उनमें संस्कार भिन्न-भिन्न रहते हैं क्योंकि भूतसूक्ष्म सूक्ष्म-शरीर का वाहक होता है। अर्थात् वह जीवात्मा को वर्तमान शरीर से आगामी शरीर तक पहुँचाता है। इसलिए मन-बुद्धि इत्यादि सूक्ष्म-शरीर उसके साथ रहते हैं और संस्कार तो मन में ही रहते हैं और उसी के आधार पर वह आगामी शरीर को ग्रहण करता है।

*****

जिज्ञासा :- अविद्या की उत्पत्ति कब से हुई है?

समाधान :- वेदान्त में छः को अनादि मानते हैं —

जीव ईशो विशुद्धा चित्तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्यातच्चितो योगः षडस्माकमनादयः।।

जीव, ईश्वर, विशुद्धचैतन्य, जीव और ईश्वर में भेद, अविद्या (अज्ञान) तथा अविद्या और चैतन्य का संयोग - ये छः अनादि हैं। इस प्रकार अविद्या को अनादि समझना चाहिए, पर वह अनन्त नहीं है। इसलिए इसकी उत्पत्ति जानने की अपेक्षा यह नष्ट कैसे हो, इसका उपाय करना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- कोई साधक वेदान्त-चिन्तन में लगा रहता है, उसके लिए क्या गुरुमन्त्र का नियमित जप आवश्यक है?

समाधान :- यदि गुरु से मन्त्र लिया है तो उसका नियमित जप करना ही चाहिए। संन्यासी के जप का अर्थ तो वेदान्त का अर्थ ही है। प्रणव और पञ्चाक्षर के अर्थ तो महावाक्यों के अर्थ के समान ही हैं। यदि इस प्रकार के अर्थानुसन्धानपूर्वक कोई जप करे तो वेदान्त-चिन्तन नहीं होगा क्या! मेरा तो यही कहना कि जप ठीक चलेगा तो चिन्तन भी ठीक चलेगा अन्यथा नहीं।

*****

जिज्ञासा :- नित्यकर्म में मन्त्रजप अधिक करना चाहिए या स्तोत्रपाठ?

समाधान :- यदि व्यक्ति एकाग्र होकर जप कर सकता है तो उसे अधिक जप ही करना चाहिए। यदि बहुत काल तक एकाग्र होकर जप नहीं कर पाता और पाठ करने में एकाग्रता अधिक रहती है तो पाठ भी करना चाहिए। परन्तु जो नियमित जप है उसे नहीं छोड़ना चाहिए। पाँच माला, दस माला जो भी नियम बनाया हो, उतना जप तो जरूर करना चाहिए चाहे मन लगे अथवा नहीं। पाठ में मन लगता है तो पाठ करना अच्छा है उसमें दोष नहीं है। पर उसके लिए मन्त्रजप नहीं छोड़ना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- गुरु-मन्त्र के जप में जब सम्पूर्ण शक्ति है तो फिर पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय क्यों किया जाए?

समाधान :- पुराणादि तो अवश्य पढ़ना चाहिए। गुरु-मन्त्र में पूर्ण शक्ति है, इसमें कोई संशय नहीं, पर उसकी महिमा पुराणादि ही बताते हैं।

आपके इष्ट की महिमा, ऐश्वर्य, लीला आदि का ज्ञान भी पुराणों से होता है। इस ज्ञान से मन्त्र-जप में श्रद्धा बढ़ती है। जीवन बड़ा व्यापक और बहुआयामी है। बहुत-से कार्य ऐसे होते हैं जिनके बारे में पुराणों से ही जानकारी मिलती है कि इन्हें किस प्रकार किया जाए? सभी व्यक्ति हमेशा मन्त्र-जप में नहीं लगे रह सकते। बचे समय में धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने से समय का सदुपयोग ही होता है। यदि कोई व्यक्ति इतना एकनिष्ठ हो गया है कि वह निरन्तर एकाग्रतापूर्वक मन्त्र-जप कर सकता है तो उतने से ही उसका कल्याण हो जाएगा। उसके लिए पुराणादि पढ़ना आवश्यक नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- कलियुग में लोगों के सामर्थ्य के साथ-साथ लगता है मन्त्रों का प्रभाव भी कम रह गया है। इसमें क्या हेतु है?

समाधान :- कलियुग में भगवान् शंकर ने मन्त्रों को कीलित कर दिया है, अर्थात् लोग उनका दुरुपयोग न कर सकें इसके लिए उनके प्रभाव को थोड़ा कम कर दिया है अन्यथा लोग उनके द्वारा मारण, मोहन, उच्चाटन आदि प्रयोग कर सकते हैं। जैसे आजकल भी बड़े देशों के शासक परेशान हैं कि छोटे देश भी परमाणु-बम बना रहे हैं, कहीं वे बम आतंकवादियों के हाथ चले गए तो सत्यानाश हो जाएगा। इसीलिए बड़े देश चाहते हैं कि सभी देश परमाणु-बम न बनाएँ। इसी प्रकार शिवजी ने भी मन्त्रों पर नियन्त्रण कर दिया है जिससे कोई दुष्ट व्यक्ति इनका मनमाना दुरुपयोग न कर पाए। शिव सबके कल्याणकारी और मङ्गलकारी हैं, उन्होंने सोचा कि जो व्यक्ति गुरु-परम्परा से जानकर मन्त्रों का उत्कीलन करे, कुछ तपस्या करे, सात्त्विक हो वही इन मन्त्रों का फल प्राप्त कर सके, अन्य लोग नहीं।

*****

जिज्ञासा :- क्या गुरुमन्त्र को गुरुरूप ही मानना चाहिए? यदि मन्त्र गुरुरूप है तो उसकी सेवा किस प्रकार करनी चाहिए?

समाधान :- गुरुमन्त्र भी गुरुरूप है, ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है। शरीर का सम्बन्ध तो व्यावहारिक है जबकि मन्त्र का सम्बन्ध तो बहुत आगे तक जाता है। गुरु आपके हृदय में मन्त्ररूप से प्रतिष्ठित रहते हैं, इसलिए गुरुमन्त्र को गुरु मानकर सतत उसकी सम्भाल और सेवा करनी चाहिए।

पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं। (विनयपत्रिका-१०५.२)

गुरुमन्त्र को हृदय में पकड़े रहना चाहिए, यही उसकी सेवा है। मन्त्र की व्याप्ति प्रत्येक व्यवहार में करो, एक क्षण भी उसे मत भूलो, यही उसकी बड़ी सेवा होगी।

*****

जिज्ञासा :- श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्र में कहा गया है - **अघोरान्नापरो मन्त्रो ...(३८)**, यहाँ अघोर मन्त्र क्या है? इसका माहात्म्य क्या है?

समाधान :- इस श्लोक में कहा गया है कि महेश से बढ़कर कोई देवता नहीं है, महिम्नस्तोत्र से ऊँचा कोई अन्य स्तोत्र नहीं है और अघोर मन्त्र से बड़ा कोई मन्त्र नहीं है। घोर शब्द अशान्त या भयंकर वस्तु के लिए प्रयोग किया जाता है। अघोर का अर्थ होता है जो पूर्णतः शान्त हो। **शिवपञ्चाक्षर** मन्त्र ही अघोरमन्त्र है। इस मन्त्र के जप से बहुत शान्ति मिलती है, इसका जप समस्त उपद्रवों का शमन कर देता है। इसलिए घबराए हुए या अशान्त व्यक्ति के लिए कुछ सन्त उपाय बताते हैं कि वह पञ्चाक्षर मन्त्र को लिखे। यह मन्त्र ही नहीं, मन्त्रराज है। यजुर्वेद के **नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च (शुक्ल यजु.-१६.४१)।** इस मन्त्र से पञ्चाक्षर मन्त्र का उद्धार किया गया है। इसलिए यह वैदिक मन्त्र है। पुराणों और आगम शास्त्रों में भी इसका बहुत महत्व बताया गया है।

*****

जिज्ञासा :- मन्त्रजप करने के लिए विनियोग, न्यास इत्यादि करने की क्या अनिवार्यता है?

समाधान :- हाँ, यदि आपको उसे पुरश्चरण रूप में या नित्यकर्म रूप में जपना है तो विनियोग, न्यास इत्यादि की आवश्यकता पड़ती है। पर चलते-फिरते चिन्तन करना है तो कोई आवश्यकता नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्र में कहा है - **ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः...(गुरुगीता-७४)**, तो मन्त्रजप करते समय गुरु का ध्यान करें अथवा भगवान् का?

समाधान :- जब आप मन्त्रजप आरम्भ करते हैं उस समय गुरु के स्वरूप का और उनके चरणों का ध्यान करो। इसके बाद जब मन्त्रजप करने लगते हैं तो उस मन्त्र के देवता का ध्यान करना चाहिए। जैसे हम गाय शब्द कहते हैं तो उसका अर्थ जो गाय वस्तु है उसका ध्यान होता है। इसी प्रकार प्रत्येक मन्त्र का देवता होता है, उसका ध्यान मन्त्रजप के साथ करना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- लोक में अमुक सिद्धि के लिए अमुक कर्म का विधान किया जाता है। इस प्रकार के कर्मकाण्ड के चक्कर में न पड़कर गुरुमन्त्र का जप करने मात्र से क्या तत्तत्कार्य सिद्ध नहीं हो सकते?

समाधान :- प्रत्येक मन्त्र में एक शक्ति निहित रहती है। शास्त्र प्रकट करते समय परमात्मा ने वह शक्ति उन मन्त्रों में समाहित कर दी थी। यह मन्त्रजप करने से यह कार्य सिद्ध होगा, उसी के अनुसार कोई व्यक्ति वह कर्म या जप करता है तो वह कार्य सिद्ध होता है क्योंकि उसके साथ एक शक्ति निहित है। गुरुमन्त्र जप करते रहने से भी वह कार्य होगा, पर उसके लिए बहुत धैर्य की आवश्यकता होती है। केवल परमात्मा को ही आधार बनाकर बहुत

मन्त्रजप करना पड़ेगा। परन्तु तत्तत्कार्य सिद्धि के लिए तत्तत्कर्म का जो विधान किया जाता है, वहाँ ऐसा नहीं होता।

इसीलिए गीता में कहा है -

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा (४.१२)

कर्मजा सिद्धि झट् से दिखाई देती है। जैसे कोई मजदूर दिन भर कर्म करे, उसे उसी के अनुसार मजदूरी शाम को मिल जाती है। पर कोई दिन भर जप करके शाम को मजदूरी माँगे तो कैसे मिलेगी!

*****

जिज्ञासा :- साधक को किसी देवता के मन्दिर में बैठकर उस देवता सम्बन्धी मन्त्र का जप करना चाहिए अथवा गुरुमन्त्र का जप?

समाधान :- साधक जहाँ भी जाए अपने गुरुमन्त्र का ही जप करे तो उचित है। उस मन्दिर से सम्बन्धित देवता को अपने इष्ट का स्वरूप समझकर वहाँ बैठकर अपने गुरुमन्त्र का ही जप करना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- मासिकधर्म-काल में मन्त्रलेखन का अनुष्ठान कर सकते हैं क्या?

समाधान :- उस समय तो मन्त्र का केवल मानसिक चिन्तन ही करे। लेखन या मालाजप इत्यादि न करें।

*****

जिज्ञासा :- गायत्री-मन्त्र का वास्तविक अर्थ क्या है?

समाधान :- गायत्री-मन्त्र के दो अर्थ होते हैं। एक गृहस्थ के लिए होता है और दूसरा नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए। गृहस्थ के लिए वह अर्थ सूर्य की प्रधानता को लेकर होता है। उस मन्त्र का अर्थ सूर्यमण्डल से ही सम्बन्धित रहता है। परन्तु नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए तीनों व्याहृतियों

(भूः भुवः स्वः) का अर्थ अलग है। **भूः** सत्ता का लक्षक है, **भुवः** प्रकाश अथवा चिद् का लक्षक है और **स्वः** आनन्द का। इनका वाच्यार्थ तो क्रमशः पृथ्वीलोक, स्वर्गलोक और अन्तरिक्षलोक होता है, पर लक्ष्यार्थ **सत्-चित्-आनन्द** (सच्चिदानन्द) ही होता है।

सूञ् - प्राणिप्रसवे धातु से सविता शब्द बनता है, अतः सविता का अर्थ हुआ सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाला। सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर ही होता है और उसी का स्वरूप बता दिया - **सच्चिदानन्द।** उस सच्चिदानन्द परमेश्वर के दो तेज हैं - एक **ज्ञानात्मक** और दूसरा **मायिक। मायिक तेज स्वरूप को आवृत्त करता है और ज्ञानात्मक तेज जीव को स्वरूपाभिमुख करता है।** यहाँ पर प्रार्थना है **तत्सवितुः देवस्य** - जगत् को उत्पन्न करनेवाले उस सच्चिदानन्द परमात्मा का **वरेण्यं भर्गः** - जो वरण करने योग्य ज्ञानात्मक तेज है, **धीमहि** - उसका हम ध्यान करते हैं। नामरूपात्मक मायिक तेज भी उसी का ही है, पर वह वरण करने योग्य नहीं है। वरण करने योग्य तो स्वरूपभूत (ज्ञानात्मक) तेज ही है।

त्वं-पदार्थ के विचार में शरीर से लेकर अहंकारपर्यन्त त्यागने पर जो शेष बचे वह मैं के रूप से वरण करने योग्य है। इसी प्रकार **तत्-पदार्थ** के विचार में परमेश्वर का जो सच्चिदानन्दस्वरूप (ज्ञानात्मक) तेज है, वही वरण करने योग्य है। इससे तत्पदार्थ में माया के शोधनपूर्वक शुद्धस्वरूप के ध्यान का निश्चय हुआ। फिर कहा - **नः धियः प्रचोदयात्,** वह हम लोगों की बुद्धिवृत्तियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे, अर्थात् लक्ष्य की ओर ले जाए। यहाँ **नः** (हमारी) कहकर बहुवचन का प्रयोग किया है। इसलिए गायत्री-मन्त्र की उपासना का प्रभाव व्यष्टि के साथ-साथ समष्टि में भी पड़ता है, तभी तो इसकी इतनी महिमा बताई गई है।

*****

जिज्ञासा :- मन्त्र का स्वरूप ज्ञानात्मक बताया गया है, फिर लोग शब्द को मन्त्र क्यों मानते हैं? कुछ लोग तो मन्त्रलेखन भी करते हैं। लिपि मन्त्र कैसे हो सकती है?

समाधान :- मन्त्र का मूल स्वरूप ज्ञानात्मक है, इसमें कोई संशय नहीं है। पर शास्त्र जो भी बात बताता है, उसे बताने में एक प्रक्रिया होती है। वह प्रक्रिया इसलिए होती है कि बात सहजता से समझ में आ जाए। जैसे वेदान्त में कहा अन्नमय कोश ही आत्मा है, फिर कहा इसके अन्दर जो प्राणमय कोश है वह आत्मा है, फिर कहा इसके अन्दर जो मनोमय कोश है वह आत्मा है, इस प्रकार क्रम से आनन्दमय कोश को भी आत्मा बताकर फिर सभी कोशों को छुड़ा दिया और कहा **ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा...(तैत्तिरीय उप.-२.५)।** ये पञ्चकोश जिसमें दिखाई दे रहे हैं, वही आत्मा है। इस प्रकार यह शास्त्र की अपनी प्रक्रिया है।

व्यवहार में भी किसी महात्मा की फोटो को देखकर आप कहते हैं कि यह अमुक महात्मा है। वह फोटो तो महात्मा नहीं हुआ, पर आप मान लेते हैं। गुरु स्वयं जीवन भर उपदेश करता रहता है कि तुम शरीर नहीं हो, इसके नाश होने से तुम्हारा नाश नहीं हो सकता और आप एक शरीर को लेकर ही गुरु मानते हैं। पर क्या करें! व्यावहारिक आधारों में गुरु के शरीर का बहुत बड़ा महत्व है। उस स्थूल-शरीर के अन्दर भी एक सूक्ष्म-शरीर है, उसी से सारा व्यवहार होता है। उसके बिना तो स्थूल-शरीर कुछ भी नहीं कर सकता क्योंकि गुरु के शरीर से ज्यादा उनकी वाणी और संकल्प का महत्व होता है। इतना होते हुए भी जब तक सूक्ष्म-शरीर तक पहुँच नहीं होती तब तक तो स्थूल-शरीर का ही आधार लेना पड़ता है।

साधना करने पर धीरे-धीरे आपको समझ में आएगा कि ईश्वर, गुरु और आत्मा में कोई अन्तर ही नहीं है, पर प्रारम्भ में यह समझ में नहीं आ

सकता। इसी प्रकार गुरु का दिया गया मन्त्र भी बड़ा रहस्यमय है।

ऋषियों ने हजारों वर्षों तक समाधि में बैठकर ज्ञानात्मिका वृत्तिरूप से मन्त्र का साक्षात्कार किया और उसे शब्द के ढाँचे में ढालकर हमारे उपयोग के लिए प्रकाशित किया। इसलिए मन्त्र शब्द नहीं होता है, बल्कि शब्द तो मन्त्र का संकेतमात्र है। परन्तु ऐसा होने पर भी गुरु की जो उस मन्त्र विषयक अनुभूति, अर्थात् मानस-ज्ञान है वह किसी अन्य के अन्दर पहुँचाने के लिए शब्द को छोड़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसीलिए मन्त्र को शब्दात्मक भी मान लेते हैं।

दीक्षा के समय गुरु स्वयं ही मन्त्ररूप में आपके हृदय में प्रवेश करता है और सतत आपको कल्याण की ओर ले जाता है। वह शब्द ही आपके अन्दर पहुँचकर मन्त्र के वास्तविक स्वरूप **ज्ञानात्मिका वृत्ति** को उत्पन्न करता है। जैसे आपने गौ शब्द सुना तो गौरूपी अर्थ की एक ज्ञानात्मिका वृत्ति आपके चित्त में बनती है जिसको उत्पन्न करने में हेतु गौ शब्द ही हुआ। शब्द का अर्थ से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतः शब्द की उपेक्षा नहीं कर सकते।

मन्त्र का अर्थ तो ज्ञानात्मक है और ज्ञान चित्तरूप है। इसलिए शिवसूत्र में कहा है **चित्तं मन्त्रः (२.१)।** पर चित्त भी मन्त्र का वास्तविक स्वरूप नहीं है। इसीलिए वहीं आगे कहा - **आत्मा चित्तम् (शिवसूत्र-३.१)।** अर्थात् चित्त ही आत्मा है। मन्त्र चित्त है और चित्त आत्मा है, अर्थात् मन्त्र आत्मारूप ही हुआ। देखिए, मन्त्र का वास्तविक स्वरूप आत्मा कहा है, पर जब तक यह समझ में नहीं आता तब तक तो लिपि और शब्द का ही आधार लेना पड़ता है।

*****

साधक-चर्या

जिज्ञासा :- आश्रम में आकर रहनेवाले गृहस्थ साधकों को किस प्रकार रहना चाहिए?

समाधान :- ऐसे साधकों को बहुत सावधानी की आवश्यकता है। भोजन को प्रसादरूप में पाना चाहिए, आश्रम से सुविधा कम-से-कम लेनी चाहिए और सेवा अधिक करनी चाहिए। सबेरे उठकर झाड़ू लगाए, तीर्थ-स्नान करे, सभी महात्माओं को प्रणाम करे। गौ की सेवा, बगीचे में पानी देना, बर्तन माँजना जो भी सेवा कर सके उसे अवश्य करनी चाहिए। आश्रम की आरती, सत्सङ्ग आदि गतिविधियों में नियमित रूप से भाग ले और बचे समय में भजन करे, तभी उसका आश्रम-निवास सार्थक होगा।

*****

जिज्ञासा :- साधु को परिग्रह से बचने का उपाय बताइए।

समाधान :- पहले समझें कि परिग्रह है क्या! साधु के लिए भिक्षा लेने में कोई परिग्रह नहीं है, आपको भूख लगी है तो भिक्षा माँगकर खा लीजिए। साथ ही जीवन यापन के लिए जितना बहुत जरूरी है, उतना संग्रह करने में परिग्रह नहीं है। उतना भी संग्रह नहीं करेगा तो भजन कैसे करेगा, परन्तु उससे ज्यादा कल के लिए भी नहीं रखना चाहिए। साधु बिना आवश्यकता के थोड़ा भी संग्रह करता है तो वह परिग्रह है।

इससे बचने के लिए विचार करना पड़ेगा। आपने कुटी या आश्रम के लिए गृहस्थ से पैसा ले लिया, परन्तु उस पैसे का ठीक-ठीक सदुपयोग नहीं हुआ तो पाप आपको लगेगा। गृहस्थों से पैसा और सुविधा लेने के कारण हमारी तपस्या ही खत्म हो रही है। परिग्रह करने पर चित्तशुद्धि नहीं हो सकती

क्योंकि उस पैसे का दोष आपमें आएगा ही। बिना चित्तशुद्धि के साधु को बल नहीं मिल पाता, इसलिए साधना कमजोर हो जाती है। साधु इन सब बातों पर विचार करके पक्का समझ ले कि परिग्रह कल्याणमार्ग का शत्रु है तो उससे बच सकता है।

*****

जिज्ञासा :- क्या ब्रह्मचारी लोगों को कमण्डल रखने और खप्पर में खाने का अधिकार है?

समाधान :- ब्रह्मचारी को कमण्डल रखने का अधिकार तो है, परन्तु संन्यासी जैसा कमण्डल (चिप्पी) रखता है वैसा रखने का अधिकार नहीं है। यदि कमण्डल या पात्र रखे ही नहीं तब तो वह अपात्र हो जाएगा। ब्रह्मचारी के पास शिखा-सूत्र है इसलिए उसे अवधूत के समान खप्पर में खाने का अधिकार नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- क्या ब्रह्मचारी चिताभस्म लगा सकता है? इसकी क्या विधि है?

समाधान :- यदि ब्रह्मचारी शिवभक्त हो तो चिताभस्म लगा सकता है। परन्तु सामान्य चिताभस्म नहीं, ऐसा चिताभस्म जिससे शिवजी का अभिषेक हुआ हो। पहले उज्जैन में महाकालेश्वर का अभिषेक चिताभस्म से होता था, उस भस्म को लोग प्रसादरूप से लगाते थे। हम भी जब काशी में ब्रह्मचारीरूप से अध्ययन करते थे, तब उस भस्म को मँगवाकर लगाते थे। इसे लगाने की कोई विशेष विधि नहीं है। जिस विधि से सामान्य भस्म लगाते हैं उसी विधि से इसे भी लगाना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- यदि गुरुजी की आज्ञा साधक के भजन में विक्षेप करती है, तो उसे क्या करना चाहिए?

समाधान :- गुरुजी की आज्ञा भजन में विक्षेप करती है, यह बात समझ में नहीं आ रही है। शिष्य के लिए गुरु की आज्ञा के पालन से बढ़कर दूसरा कोई भजन नहीं है। अपने मन का काम करके भजन होगा अथवा गुरु की आज्ञा का पालन करके? गुरु को परमेश्वर मानकर यदि शिष्य आज्ञा का पालन कर रहा है तब तो उसका प्रतिक्षण भजन ही हो रहा है। गुरु का वरण इसीलिए किया जाता है कि जो बात हम नहीं समझते उसे गुरु समझते हैं। वे हमारे हित की बात बताएँगे। अब तुम्हें अपनी समझ में हित दीखता है और गुरु की आज्ञा में अहित तो हम क्या कहें!

हमने तो अपने जीवन में गुरु आज्ञा के पालन से अतिरिक्त दूसरा कोई भजन जाना ही नहीं। गुरु को साक्षात् महादेव मानकर उनकी सेवा करने से मन में विक्षेप नहीं, बल्कि प्रसन्नता ही होगी। साधक के विक्षेप का हेतु दूसरी बात है। अपने मन में गड़बड़ी आने पर इस प्रकार का विक्षेप होता है। साधक अपनी मनमानी नहीं चला पाता, यही उसके विक्षेप का हेतु बन जाता है।

साधक यदि गुरु आज्ञा का पालन नहीं कर पाता है तो उसको कुछ दिन के लिए गुरु स्थान से बाहर चले जाना चाहिए। उसे अपरिचित क्षेत्र में भ्रमण करना चाहिए और कोई साधन या पैसा अपने पास नहीं रखना चाहिए। गुरु आज्ञा न मानने का यह प्रायश्चित्त है। वह भगवान् के आश्रय से भ्रमण करेगा तो उसकी बुद्धि शुद्ध होगी। तब उसे समझ में आएगा कि भ्रमण करने से भजन होगा अथवा गुरु की आज्ञा मानने से। गुरु का महत्व उसकी समझ में आ जाएगा।

*****

जिज्ञासा :- यदि गुरु की आज्ञा अशास्त्रीय है तो शिष्य को क्या करना चाहिए?

समाधान :- शिष्य यदि शास्त्र के मर्म को जाननेवाला हो और उसे मालूम होता है कि गुरु की आज्ञा अशास्त्रीय है तब भी उसे क्रोध नहीं करना

चाहिए, हाथ जोड़ लेना चाहिए कि महाराज! मुझसे यह करना सम्भव नहीं है। महाराष्ट्र के एक महान् सन्त एकनाथजी हुए हैं। उनके गुरु जनार्दन स्वामी थे और उनके भी गुरु दत्तात्रेयजी थे। जनार्दन स्वामी राजा के मन्त्री थे, पर उनका जीवन बहुत उत्कृष्ट था। एकनाथजी उनके खर्चेका हिसाब-किताब रखते थे। एक दिन एक पैसे का हिसाब न मिला तो वे बहुत परेशान हो गए। रात के तीन बज गए, निद्रा भी नहीं आई। अचानक किसी खर्च की स्मृति आ गई तो हिसाब मिल गया। तब वे बड़ी जोर से चिल्ला उठे - 'मिल गया, मिल गया।' गुरुजी ने पूछा कि बेटा क्या मिल गया? तो कहा - गुरुजी, एक पैसे का हिसाब मिल गया। तब गुरुजी बोले, 'बेटा, एक पैसे का हिसाब मिलने पर तुमको इतनी प्रसन्नता हो रही है, जिस दिन तुम्हें जीवन का हिसाब मिल जाएगा, उस दिन कितनी प्रसन्नता होगी!'

दूसरे दिन दत्तात्रेयजी कहीं पास में आए हुए थे। जनार्दन स्वामी उनसे मिलने जा रहे थे तो एकनाथजी को भी साथ ले गए। वहाँ जाकर देखा कि एक अवधूत साधु बैठे हैं और चारों ओर से कुत्ते उन्हें घेरे हुए हैं। दोनों लोग उन्हें प्रणाम करके बैठ गए और कुछ देर सत्सङ्ग होता रहा। दत्तात्रेयजी ने कहा, 'जनार्दन! आज खीर खाने की इच्छा है। मैं दूध निकाल देता हूँ, तू खीर बना लेना।' उन्होंने कुतिया का दूध दुह लिया और जनार्दन स्वामी ने खीर बनाई। जब उसमें से कुछ खीर एकनाथजी को दी गई तो वे हाथ जोड़कर खड़े हो गए और बोले, 'महाराज! कुतिया के दूध की खीर तो मैं नहीं खा सकता क्योंकि यह शास्त्र- विरुद्ध है। आप लोग समर्थ हैं, पर मैं नहीं खा सकता।'

जनार्दन स्वामी ने बहुत समझाया, पर वे यही बोले कि मेरा हृदय नहीं मानता। उन्होंने हाथ जोड़ लिए। कुछ देर में ही चमत्कार हुआ, सभी कुतिया कामधेनु (गाय) बन गईं। अब एकनाथजी बोले, 'हमें आपकी लीला समझ में नहीं आई। मुझे पता होता कि ये कामधेनु हैं तो खीर खा लेता।'

व्यवहार बड़ा विलक्षण होता है। मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि यदि

शिष्य को लगे कि गुरु की आज्ञा अशास्त्रीय है तो उसे हाथ जोड़ लेने चाहिए। अपनी बुद्धि को खराब नहीं करना चाहिए और न ही क्रोध करना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- हम साधक बने हैं या नहीं, इसे कैसे समझें?

समाधान :- पहले समझना चाहिए कि सामान्य लोगों में और साधक में क्या अन्तर होता है। सामान्य लोगों को भी बहुत ज्ञान रहता है, पर वे सब साधक नहीं हैं। सामान्य लोग भी यह जानते हैं कि यह दोष है और यह गुण। पर वे समझते हैं कि जगत् तो ऐसा ही है, इसमें गुण-दोष सब चलता है। इसलिए वे अपने दोषों को मिटाने का प्रयास नहीं करते। जो साधक होता है वह अपना छोटा-सा दोष भी सहन नहीं कर पाता। अपने दोषों को विचारकर घबरा जाता है। साथ ही वह मुझमें कहाँ कमी है यह खोजकर उसे दूर करने का प्रयास करता है।

तुम रोज पैसे का हिसाब करते हो, पर जिस दिन से तुम जीवन का हिसाब करने लगोगे उसी दिन तुम साधक बन जाओगे। रोज सोने के पहले जीवन का हिसाब करो कि आज का हमारा व्यवहार लक्ष्य के अनुकूल हुआ या प्रतिकूल! साधक वही है जिसे अपना लक्ष्य हमेशा सामने दिखाई देता है और जो रोज अपने जीवन का हिसाब करता है कि आज क्या कमाई हुई और क्या खोया! जब नियमित रूप से इस प्रकार हिसाब करने लगता है तो व्यक्ति में साधकत्व आ जाता है।

दूसरी बात समझना चाहिए कि शास्त्र है - **रोकड़** और तुम्हारा जीवन है - **खाता।** साधक जब रोज हिसाब करता है तो रोकड़ और खाते को मिलाता है। वह देखता है कि शास्त्रों में भक्त का लक्षण यह कहा गया है, ज्ञानी का लक्षण इस प्रकार कहा गया है - मुझमें ये लक्षण आ रहे हैं या नहीं। **अपने जीवन को उनके साथ मिलाने के लिए ही शास्त्र में ये लक्षण**

लिखे गए हैं। साधक का दूसरा लक्षण हुआ अपने जीवन को शास्त्र से मिलाना।

तीसरी बात समझनी चाहिए कि वस्तुतः परमार्थ का साधक वही हो सकता है जिसने परमेश्वर के साथ अपना सम्बन्ध सुदृढ़ बनाकर रखा है, जिसके पास परमेश्वर का बल है। यह बल यदि नहीं है तो साधक जगत् से लड़ने में समर्थ नहीं होगा। साथ ही गुरुमुखी व्यक्ति ही साधक हो सकता है, मनमुखी नहीं। जो गुरुमुख होता है वह प्रत्येक कार्य में गुरु और शास्त्र के अनुसार चलता है अपने मन से नहीं। ऐसा करने पर ही पारमार्थिक उन्नति सम्भव है। उपरोक्त गुण जितने अधिक जिसमें हैं वह उतना ही उत्तम साधक कहलाने योग्य है।

*****

जिज्ञासा :- शिष्य को गुरु के साथ रहने का अवसर मिले तो वह अपना भाव कैसा रखे और क्या सावधानी रखे?

समाधान :- शिष्य को गुरु की अथवा सेवक को स्वामी की सेवा किस प्रकार करनी चाहिए, इस विषय में तुलसीदासजी कहते हैं -

सुत की प्रीति प्रतीति मीत की (विनयपत्रिका-२६८.२)। जैसे बच्चे पर माता की प्रीति होती है तो वह उसे हमेशा सम्भालती रहती है। उसी प्रकार शिष्य गुरु का हमेशा ध्यान रखता है। यदि तुम सच्चे भाव से गुरु की सेवा करो तो उनसे पहले तुम्हें ही पता लग जाएगा कि उन्हें भूख या प्यास लगी है अथवा नहीं। चाहो तो अनुभव करके देख सकते हो। माता को पता लग जाता है कि बच्चे को भूख लगी है या प्यास, उसे दर्द हो रहा है या नहीं, सब पता चल जाता है। तुम्हारी गुरु के प्रति ऐसी प्रीति होगी तो तुम्हें पता लग जाएगा। प्रीति तो इस प्रकार की हो और **प्रतीति मीत की** - जैसे मित्र से तुम कुछ नहीं छिपाते, ऐसे ही गुरु से कभी छिपाना नहीं चाहिए, कपट नहीं करना चाहिए। यदि तुम छिपाओगे तो तुम्हारा दोष निकलेगा कैसे? भाव के विषय

में तो ये दो बातें बताईं।

अब बताते हैं कि व्यवहार में कैसे रहा जाए - **नृप ज्यों डरिहै (विनयपत्रिका-२६८.२),** जैसे राजा के डर से व्यक्ति सावधान रहता है, ऐसे ही गुरु के साथ भी व्यवहार में सावधान रहो। हमेशा देखते रहो कि हमारा कोई व्यवहार ऐसा तो नहीं हो रहा है जो उनके विक्षेप का हेतु बन जाए। कोई व्यवहार ऐसा तो नहीं जिससे उनके सम्मान में, प्रतिष्ठा में ठेस लगे, इस प्रकार गुरु के साथ व्यवहार में बहुत आदर और सावधानी से रहना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- शिष्य अगर गुरु-आश्रम की सेवा में लगा रहता है और उसे एक स्थान पर बैठकर मन्त्रजप करने के लिए समय नहीं मिलता, तब उसे क्या करना चाहिए?

समाधान :- वह सेवा में लगा हुआ है, यही उसका मन्त्रजप है। ऐसा होने पर भी इष्ट-मन्त्र की उपेक्षा न करे। मन्त्रसहित जो भी कर्म होता है वह यज्ञ बन जाता है। मन्त्रसहित स्नान करोगे तो वह यज्ञ होगा, मानव-स्नान होगा अन्यथा पशु-स्नान ही रहेगा। इसलिए साधक को चाहिए कि अपने मन्त्र का सदा हृदय में स्मरण रखे। ऐसा करने से उसकी सारी सेवा मन्त्रसहित होगी तो उसका जीवन यज्ञरूप, पवित्र और भगवान् को प्रसन्न करनेवाला हो जाएगा। व्यक्ति चाहे खेत खोद रहा हो अथवा पेड़ों को पानी दे रहा हो, यदि उसके मन में मन्त्र का चिन्तन चल रहा है तो उसका कर्म शिव को अर्पित हो जाएगा। इसलिए साधक को ऐसा अभ्यास रखना चाहिए कि बाहर सेवा चलती रहे और अन्दर मन्त्र। मन्त्र से भगवान् को पकड़े रहेगा तो सेवा का समर्पण उन्हें होता रहेगा और साधक का जीवन उन्नत हो जाएगा।

*****

जिज्ञासा :- जीवन में समदृष्टि की प्राप्ति हो, इसके लिए क्या उपाय है?

समाधान :- वेदान्त-विचार के अनुसार आपकी बुद्धि सर्वत्र कारणतत्त्व में केन्द्रित हो जाए तो समदृष्टि आ जाएगी क्योंकि एक कारण से ही सारा भेद उत्पन्न हुआ है। पर्देपर दीखनेवाले चित्रों में भेद है, इसलिए जब तक आपकी बुद्धि चित्रों में टिकी है तब तक समदर्शन नहीं हो सकता। जब बुद्धि पर्देमें टिक जाए तो समदर्शन सम्भव है। आपकी बुद्धि आभूषणों में चमत्कृत हो रही है तो सोने में नहीं टिक पाएगी और इसके बिना सभी आभूषणों में समदर्शन नहीं हो सकता।

इसी प्रकार एक परमात्मा ने ही सर्वरूप धारण किया है, उसमें यदि आपकी बुद्धि टिक जाए तो समदृष्टि आ जाएगी। वेद भी कहता है -

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत (छा.उप.-३.१४.१)

सब कुछ परमात्मा ही है क्योंकि यह जो जगत् दीख रहा है उसी से जन्मा है, उसी में चेष्टा कर रहा है और उसी में लीन होता है। इस प्रकार से विचार करते रहेंगे तो समदृष्टि मजबूत होती जाएगी।

*****

जिज्ञासा :- साधक को किस प्रकार रहना चाहिए? साधना में विघ्न क्या है?

समाधान :- साधक वही है जिसका कोई निश्चित लक्ष्य हो। चाहे मोक्ष लक्ष्य हो अथवा भोग, कोई तो लक्ष्य होना चाहिए। साधक को इसी प्रकार रहना चाहिए कि उसके लक्ष्य से विपरीत, लक्ष्य से दूर ले जानेवाला कोई व्यवहार न हो पाए, इस विषय में सतत सावधान रहना चाहिए। लक्ष्य की तरफ बढ़ाने में जो सहायक बने वही व्यवहार उसे करना चाहिए। साधक का जो भी व्यवहार, कर्म या चिन्तन उसे अपने लक्ष्य से दूर करता है, वही उसकी साधना में विघ्न है।

*****

जिज्ञासा :- क्या साधु को अपरिग्रही रहना परमार्थ दृष्टि से अनिवार्य है? यह अपरिग्रह कैसा होना चाहिए?

समाधान :- जितने मात्र से आपका आज का काम चल सकता है, उतना मात्र संग्रह रखो और ईश्वर पर विश्वास रखो, यही अपरिग्रह है। हमारा काम दो कपड़ों से चल सकता है तो हम पाँच कपड़े क्यों रखें! हमने बहुत-से लोगों को देखा कि उनके पास मात्र एक धोती है उससे ही वे अपना काम चला लेते हैं। शाम को गमछा पहन लेते हैं और धोती धोकर फैला देते हैं। सबेरे फिर धोती बाँधकर दिनभर व्यवहार करते हैं और रात गमछा में गुजार देते हैं। साधु को अपरिग्रही रहना बहुत ही आवश्यक है, ऐसा न करने पर उसका आत्मबल कमजोर पड़ जाता है और जो परिग्रह रखा है उसके निमित्त से साधना में बहुत-से विक्षेप भी आ जाते हैं।

*****

जिज्ञासा :- साधु के लिए विचरण करते हुए रहना ठीक है या एक जगह रहना?

समाधान :- मुख्य बात यह है कि चाहे विचरण करो अथवा एक जगह रहो, भजन ठीक से होना चाहिए। साधक का भगवान् से नित्य सम्बन्ध बने रहना चाहिए, उसके हर व्यवहार में गुरु-आज्ञा अनुस्यूत रहनी चाहिए। हमने भ्रमण भी करके भी देखा है और एक जगह रहकर भी। व्यक्ति को यही निर्णय करना चाहिए कि उसका भजन जिस प्रकार से ठीक हो सके, वही करे। भ्रमण विशेष रूप से तपस्या के लिए किया जाता है। उसमें भजन करना थोड़ा मुश्किल होता है, बहुत हुआ तो भगवन्नाम-स्मरण हो सकता है। पर जिसकी निष्ठा बन गई है उसका भजन तो घूमते-फिरते भी चलता रहता है।

जिसकी ऐसी निष्ठा नहीं है उसे एक जगह रहकर अपने जीवन को

तपोमय बनाना चाहिए और भजन करना चाहिए। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक जगह रहने की निष्ठा बनाने के लिए घूमना भी पड़ता है। घूमने के बाद अनुभव होता है कि एक जगह रहकर ही साधना होगी अन्यथा साधना करने बैठता है तो थोड़ी-सी कठिनाई देखकर सोचता है कि घूमना ही ठीक है। इसलिए पहले थोड़ा घूमकर जगत् को पढ़ लें, घूमने की कठिनाइयों को समझ लें तो एक जगह रहने पर मन घूमने का संकल्प नहीं करेगा। जब इस प्रकार एक जगह साधना में बैठे तो पूर्ण अन्तर्मुख होकर साधना करे और बाहर के प्रपञ्च के विषय में चिन्ता छोड़ दे। दूसरे व्यक्ति हमारे विषय में क्या सोचते हैं ये सब विचार मन में न लावे। अन्तिम बात तो यह है कि आप चाहे एक जगह रहो या घूमो तपस्या, भजन, इन्द्रिय-निग्रह इन सबको ठीक रखना चाहिए। यदि ऐसा न कर सके तो न यह ठीक होगा और न वह।

*****

जिज्ञासा :- ऊर्ध्वरेता कौन बन सकता है?

समाधान :- ऊर्ध्वरेता बनने के लिए आवश्यक है कि साधक अष्टविध मैथुन का पूर्णतः त्याग करके ब्रह्मचर्य का निष्ठा से पालन करे। साथ ही उसका आहार-विहार अत्यन्त संयमित और शुद्ध हो, प्राणायाम का अभ्यास करे और मन को किसी उत्कृष्ट पारमार्थिक साधना में लगाए रखे। ऐसा करने पर वीर्य शुद्ध हो जाता है और वह प्राणायाम आदि अभ्यास के बल पर उसे संरक्षित करने में समर्थ हो जाता है। उसके बाद साधना के बल पर जब साधक वीर्य, प्राण और मन तीनों को सुषुम्ना में प्रवेश कराने में समर्थ हो जाता है, तभी वह पूर्ण रूप से ऊर्ध्वरेता हो सकता है।

*****

जिज्ञासा :- साधक एक ही परिस्थिति में मन को अधिक समय तक कैसे स्थिर रखें?

समाधान :- यह काम एक दिन में नहीं होगा। इसके लिए अभ्यास

और धैर्य की आवश्यकता है। प्रारम्भ में साधक को साधना में एक ही साधन को लेकर नहीं चलना चाहिए, बल्कि परमार्थविषयक कई परिस्थितियाँ बनानी चाहिए। ध्यान का अभ्यास करना चाहिए और जब ध्यान से ऊबे तो कुछ समय जप करना चाहिए। जप से भी ऊब हो तो मानस-पूजन करना चाहिए। उसमें भी अधिक समय हो जाने पर यदि विक्षेप हो तो आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन-मनन करना चाहिए। इस प्रकार से कई भूमिकाएँ बनानी पड़ेंगी। मन को तो चञ्चल रहने की आदत पड़ी है, एक जगह अधिक समय टिकेगा नहीं। यदि इस प्रकार से अलग-अलग साधनों में नहीं लगाएँगे तो जगत् की ओर चला जाएगा।

मुख्य बात यह है कि जहाँ आपकी प्रीति अधिक हो जाती है, मन को सुख मिलने लगता है तो वहाँ से जल्दी नहीं उठता। परमार्थ का, अपनी साधना का महत्व बैठ जाएगा, भजन में विषयों से अधिक रस मिलने लगेगा तो मन नहीं ऊबेगा। विचार करना चाहिए कि विषयों से जो सुख मिलता है उसमें तो बहुत पराधीनता है, परन्तु भजन के सुख में कोई पराधीनता नहीं। इस प्रकार का विचार करते-करते जब भजन का महत्व और रस विषयों से अधिक हो जाएगा तो मन भजन में लगा रहेगा। फिर मन को एक ही परिस्थिति में लम्बे समय तक रखने में कोई समस्या नहीं रहेगी।

*****

जिज्ञासा :- भगवान् की पञ्चशक्तियाँ अपना-अपना कार्य कर रही हैं। सृष्टि-पालन-संहार-तिरोधान (मोहित करना) और अनुग्रह (मोह-निवृत्ति का उपाय करना), यह सब भगवान् कर रहा है। तब हम क्या करते हैं और हमारा कर्तव्य क्या **है?**

समाधान :- आप कुछ नहीं करते, पर मान लेते हो कि मैंने किया। कर तो सब वही रहा है और उस करने में अभिमान आप कर लेते हैं। अहंता और ममता ये दो काम जीव करता है, बाकी सब परमेश्वर करता है। शरीर

ईश्वर बनाता है, पर उसमें अहं आप कर लेते हैं। शास्त्र में कहीं भी नहीं कहा गया है कि शरीर में अहं करो, इसलिए यह आपका ही कार्य है। अहं-मम आपने किए है, इन्हें आपको ही छोड़ना पड़ेगा। इन्हें छोड़ना ही आपका पुरुषार्थ है।

दूसरी बात, शास्त्र में आपके लिए जो कर्तव्य कहा हो बस उतना आप करिए। भगवान् सारे जगत् को बनाते हैं, पालते हैं वह काम आप नहीं कर सकते। यदि आपको यह ठीक समझ में आ गया है कि भगवान् सब कर रहे हैं तो अच्छा है। भगवान् की आज्ञा मानकर कर्तव्य कर्म करो और उसका कर्ता अपने को मत मानो, सब कुछ भगवान् ही करा रहे हैं, यही सोचो। निष्काम कर्म करने पर भी कर्तापन का अभिमान आ जाता है, पर जब प्रभु को ही कर्ता-धर्ता मान लेते हैं तो अभिमान कमजोर हो जाता है। भगवान् ने भी अर्जुन से कहा था – **निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् (गीता-११.३३)।** सब कुछ भगवान् की इच्छा से होता है हम तो केवल निमित्त बनते हैं, ऐसी आपकी धारणा हो जाए तो आपके सभी कर्म ईश्वर की आराधना बन जाएँगे। यही आपको करना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- महात्मा को शास्त्र अध्ययन के बाद अध्यापन करते रहना चाहिए अथवा आत्मदर्शन के विक्षेपों को हटाते हुए साधना में लगे रहना उचित है?

समाधान :- पहले के महात्मा लोग कहा करते थे कि अपने नाश के लिए बस एक चाकू काफी है, पर दूसरे से लड़ाई करना है तो बहुत-से अस्त्र-शस्त्र होना आवश्यक है। वे कहते थे कि जो साधक है उसके लिए तो माण्डूक्य उपनिषद् सुनकर उसके विचार में लग जाना ही पर्याप्त है। उसे बहुत शास्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। पर जिसका अध्यापन आदि करने का संकल्प है उसे तो बहुत-कुछ पढ़ना पड़ेगा अन्यथा शिष्यों की जिज्ञासा और

शंकाओं का समाधान कैसे करेगा! यदि आप संन्यासी हैं, आपका लक्ष्य केवल आत्मदर्शन है तब तो पढ़कर साधना में लगना ही उचित है। यदि किसी का प्रारब्ध ऐसा है कि उसे लोकसंग्रह भी करना है, आचार्य बनना है तो उसे पढ़ाना भी पड़ेगा। परन्तु संन्यासी का मुख्य कर्तव्य तो आत्मदर्शन ही है।

*****

जिज्ञासा :- यदि साधक कुम्भमेले में निवास के लिए जाता है तो उस काल में वह अपनी दिनचर्या किस प्रकार बनाए?

समाधान :- कुम्भमेला एक पवित्र पर्व है। वहाँ समय का बहुत ठीक से उपयोग करना चाहिए। साधक भोजन कम करे, जप ज्यादा करे, व्यर्थ बात न करे, तपस्यामय जीवन बितावे। कुम्भमेले में मुख्यतः स्नान का महत्व होता है। साधक जब तक वहाँ रहे प्रतिदिन दोनों समय नदी में स्नान करे। ऐसा न कर सके तो कम-से-कम सुबह तो अवश्य करे। पुराणों में और वेदमन्त्रों में भी कहा गया है कि यदि पर्वकाल में स्नान करते-करते शरीर छूट जाए तो व्यक्ति ब्रह्मलोक अथवा स्वर्ग को जाता है। यदि सामर्थ्य हो तो दान भी करे। जितना हो सके, त्याग-तपस्यामय जीवन बिताए।

एक ध्यान देनेवाली बात यह है कि ऐसे पर्व के अवसर पर तीर्थों में जाने से सारे दोष दूर होते हैं, परन्तु वहाँ यदि कोई गलती हुई तो वह कहाँ दूर होगी! इसलिए वहाँ बहुत सावधानी की अपेक्षा है। भूल से कभी मुख से झूठ न निकले, किसी के प्रति राग-द्वेष न हो, किसी की निन्दा न हो, इसका बहुत ध्यान रहे। तुकारामजी एक जगह कहते हैं, सन्तों के पास नहीं जाना। जब किसी ने पूछा, 'अरे! सब लोग तो कहते हैं कि सन्तों के पास जाने से कल्याण होगा और तुम मना करते हो।' तब वे बोले, 'सन्तों के पास जाओगे तो तुम्हारे सभी पाप नष्ट हो जाएँगे, पर वहाँ गलती करोगे तो वह पाप कहाँ

नष्ट होगा!' कहने का तात्पर्य है कि ऐसे पर्व में जाना है तो इतनी सावधानी से जाओ अन्यथा दूर ही रहो।

*****

जिज्ञासा :- कोई व्यक्ति मुमुक्षु है और अभी उसको गुरु नहीं मिला तो गुरु मिलने तक उसका क्या कर्तव्य है?

समाधान :- यदि व्यक्ति मुमुक्षु है तो उसकी परमात्मा के प्रति भक्ति तो होनी ही चाहिए। इसलिए उसकी शिव, देवी, विष्णु इत्यादि जहाँ भी निष्ठा हो उनके स्तोत्रों का पाठ करे। इस प्रकार अपनी भक्ति को दृढ़ करे और कोई अशास्त्रीय कर्म न करे एवं अपने कर्म को इष्ट के प्रति समर्पण करते हुए प्रार्थना करे कि मुझे योग्य गुरु प्राप्त हो।

*****

जिज्ञासा :- यदि कोई व्यक्ति चाहकर भी गुरु-आज्ञानुसार नहीं चल पाता है या कई बार किसी को गुरु-वाक्यों पर ही शंका हो जाए कि ये हमारे हितकर हैं या नहीं, ऐसे में उस व्यक्ति का क्या कर्तव्य है?

समाधान :- चाहकर भी गुरु-आज्ञा का पालन नहीं कर पाता है, इसका अर्थ यह हुआ कि उसके चाहने में दृढ़ता नहीं है, मात्र ऊपर-ऊपर से कह देता है कि मैं आज्ञा का पालन करना चाहता हूँ, पर कोई प्रतिबन्ध उसमें बाधा डाल देता है। इसके लिए सबसे पहले तो उस व्यक्ति को दृढ़संकल्प होना पड़ेगा। दूसरा, यह निश्चय करना पड़ेगा कि गुरु का अनुभव मुझसे अधिक है, वे मुझसे अधिक ज्ञानी हैं। वे हमारी प्रत्येक समस्या को समझते हैं और पूर्णरूप से निःस्वार्थ हैं। ऐसी परिस्थिति में वे मुझे जो भी आज्ञा देंगे या उपदेश करेंगे वह हमारा हितकर ही होगा।

यदि व्यक्ति ऐसा निश्चय करके गुरु-आज्ञा-पालन करने में लग जाए तो अवश्य ही इस प्रकार की समस्या का समाधान हो जाए।

*****

जिज्ञासा :- यदि कोई साधक गुरु आज्ञा पालन करने में अपने को कमजोर समझे और भय को प्राप्त हो कि यह मैं कैसे पालन करूँगा तो उसे क्या करना चाहिए?

समाधान :- साधक अपने को कमजोर क्यों मानता है। गुरु की आज्ञा का पालन करके तो देखे, उनकी कृपा आज्ञा पालन करने का बल भी देगी, ऐसा क्यों नहीं समझता कि गुरु आज्ञा ईश्वर प्रेरणा से हुई है और हमारे कल्याण के लिए है।

*****

जिज्ञासा :- साधक को अपनी कमजोरी गुरु के सामने बतानी चाहिए अथवा नहीं?

समाधान :- यह तो वही बात हुई कि रोगी को अपनी समस्या के विषय में वैद्य को बताना चाहिए या नहीं! अरे, गुरु के सामने संकोच क्यों करते हो? अपनी जो कमजोरी हो, वह बताओ उनको, वे आपको समाधान बताएँगे।

*****

जिज्ञासा :- क्या शास्त्राध्ययन करने की कोई सीमा है?

समाधान :- जब तक आत्मज्ञान का अनुभव अपने हृदय में न हो जाए तब तक शास्त्राध्ययन करते रहना चाहिए। हाँ, इसके उपरान्त आवश्यकता नहीं रहती। ऐसा शास्त्रों में कहा भी गया है -

पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः (अमृतबिन्दु उप.-१८)

जैसे धान को चाहनेवाला उसके छिलकों को त्याग देता है, उसी प्रकार मोक्ष चाहनेवाले को तत्त्वज्ञान होने पर शास्त्राध्ययन त्याग देना चाहिए। अर्थात् उसकी आवश्यकता नहीं रहती है।

*****

जिज्ञासा :- ब्रह्मचारी को स्वप्न में यदि गन्दे विचार आ जाएँ तो क्या उसका ब्रह्मचर्य खण्डित होगा?

समाधान :- नहीं। स्वप्न में आए विचार किसी के बस में नहीं है, इसलिए उन विचारों से ब्रह्मचर्य-व्रत का खण्डन नहीं होता। हाँ, जाग्रत अवस्था में गन्दे विचार आ गए और उनका प्रतिकार नहीं किया या उनको और प्रोत्साहित किया तो ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित हो जाता है।

*****

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।।

(कठोपनिषद्)

जो साधक विवेकयुक्त बुद्धिरूपी सारथि से युक्त तथा समाहित मनवाला होता है, वह संसार-सागर से पार होकर परमात्मा के परमपद को प्राप्त कर लेता है।

जिज्ञासा :- आध्यात्मिक जीवन में उन्नति के लिए ईश्वरकृपा, गुरुकृपा अधिक महत्वपूर्ण हैं अथवा अपना प्रयास?

समाधान :- हम अपने जीवन की एक घटना सुना देते हैं, उसी से इस प्रश्न का समाधान हो जाएगा। अपने ब्रह्मचारी जीवन में जब मैं किसी क्षेत्र में भ्रमण करता तो उस क्षेत्र के सन्तों के दर्शन जरूर करता था। एक सन्त चालीस वर्ष से गङ्गा किनारे रहते थे। मुझे उनके विषय में जानकारी मिली तो मैं उनके दर्शन करने के लिए उत्सुक हुआ। उनके बारे में पास के गाँववालों ने बताया कि वे बहुत क्रोधी हैं, किसी से बात भी नहीं करते और न किसी को भोजन देते हैं, इसलिए वहाँ जाना ठीक नहीं है। परन्तु मेरे मन में उनसे मिलने की बड़ी तीव्र उत्कण्ठा हो गई, इसलिए सुबह-सुबह किसी को बताए बिना पाँच किलोमीटर चलकर उनकी कुटिया पर पहुँचा और बाहर एक लकड़ी पर बैठ गया।

लगभग एक घण्टे बाद उन्होंने कुटी का दरवाजा खोला और पूछा, 'कैसे आए?' मैंने प्रणाम करके कहा, 'दर्शन के लिए आया हूँ।' उन्होंने फिर दरवाजा बन्द कर लिया, पर मैं धैर्यपूर्वक बैठा रहा। डेढ़ घण्टे बाद उन्होंने दरवाजा खोला और मुझे अन्दर बुला लिया। ऐसा लगता है कि इतने समय में उन्होंने भिक्षा तैयार की होगी। हम दोनों ने साथ में भिक्षा पाई। इसके बाद हम लोग धूनी पर बैठ गये।

मेरे मन में साधना के विषय में जितने संशय या समस्याएँ थीं, उन सबके विषय में मैंने उनसे पूछा। उन्होंने अपने चालीस-पचास वर्ष के अनुभव के अनुसार मेरे सभी संशयों का समाधान किया और समस्याओं से निपटने के उपाय बताए। दो घण्टे सत्सङ्ग में बीतने पर मेरे मन में आ गया कि

लोगों ने मुझे व्यर्थ ही डरा दिया था, इतने कोमल-हृदय महात्मा तो मैंने आज तक नहीं देखे। मेरे मन में इतना आया ही था कि वे बोल पड़े, 'ब्रह्मचारीजी! हो गया न।' अब मेरे मुख से निकल गया कि आप सन्तों की कृपा होवे तो हो। मेरे मुख से इतना निकलना था कि वे तो एकदम आगबबूला हो गए। वे इतने क्रोधित हुए कि मैंने तो सोचा अब ये मारे बिना छोड़ेंगे नहीं। बड़े आक्रोश से बोले, **'बिनु हरिकृपा मिलैं नहीं संता (मानस सु.-६.२)** - बिना भगवान् की कृपा के तुम यहाँ आ नहीं सकते थे। तेरे ऊपर भगवान् की कृपा हुई या नहीं?'

मैंने कहा, 'महाराज! हो गई।' वे फिर बोले, 'मैं तुम्हें अन्दर क्यों बुलाता, क्या सम्बन्ध है हमारा! पर जब मुझे लगा कि भगवान् ने इसे यहाँ भेजा है, तब तुम्हें अन्दर बुलाया। तुमने जो कुछ पूछा, हमने बिना आनाकानी किए अपने पचास वर्ष के अनुभव से तुम्हें सब बताया। बोलो, हमारी कृपा हुई या नहीं।' मैंने हाथ जोड़कर डरते हुए कहा, 'हाँ महाराज! आपकी कृपा हो गई।' तब उन्होंने कहा, 'देखो, तुम्हारे ऊपर भगवान् की कृपा हो गई, सन्त की कृपा भी हो गई, पर तुमने यदि अपने ऊपर कृपा नहीं की तो तुम्हारा कल्याण कभी नहीं होगा। अरे! मैंने तो बता दिया पर उसे मानना किसे पड़ेगा!'

मैंने उनके चरणों में प्रणाम किया और चला आया। पर आज भी कभी-कभी उनकी वही मूर्ति हमारी आँखों के सामने खड़ी हो जाती है। सन्तों की डाँट में भी कृपा ही होती है। कहने का तात्पर्य यही है कि ईश्वरकृपा और गुरुकृपा का महत्व अपनी जगह होने पर भी साधक का अपना प्रयास ही प्रधान है।

*****

जिज्ञासा :- मैं प्रतिदिन दस हजार इष्ट-मन्त्रजप करता हूँ, परन्तु मेरे मन एवं शरीर की अजीब ही स्थिति है। मुझे कभी घबराहट होती है तो कभी

मैं रोता हूँ, कभी-कभी वासना प्रबल हो जाती है। ऐसे में मुझे क्या करना चाहिए?

समाधान :- आपको अपने जप में ही केन्द्रित होना चाहिए। इन बातों की चिन्ता नहीं करेंगे तो धीरे-धीरे ये सब समस्याएँ दूर हो जाएँगी। जितना इनको महत्व देंगे उतनी वे बढ़ेंगी। इनकी उपेक्षा करके जितना अधिक जप में केन्द्रित होंगे उतनी जल्दी वे शान्त हो जाएँगी। आपको समझना चाहिए कि ये हमारे जप में विघ्न हैं, इन्हें दूर करने का उपाय यही है - जप में तन्मय होना और इनकी उपेक्षा कर देना। जब आप पूर्ण प्रयास से ऐसा करेंगे तब भगवान् भी विघ्न दूर कर देंगे।

******

जिज्ञासा :- जप-ध्यान करते समय मन बहुत इधर-उधर भागता है, इसको रोकने की कोई विधि बताएँ।

समाधान :- आपको पहले यह सोचना चाहिए कि क्या संसार में ऐसी भी कोई जगह है जहाँ मेरा मन एकाग्र होता है। नोट गिनने में एकाग्र होता है या नहीं, अपनी पसन्द का भोजन आ जाए तो एकाग्र होता है या नहीं, अपने लड़के की प्रशंसा सुनने में एकाग्र होता है या नहीं! वहाँ एकाग्र होता है पर भजन करने में नहीं होता, ऐसा क्यों? कारण यही है कि वहाँ पर उसको जितना प्रियत्व लगता है उतना भगवान् के नाम में नहीं।

सांसारिक भोग के समय मन एकाग्र होता है क्योंकि भोग में प्रियत्व है। जितना प्रियत्व भोग में है उतना यदि नामजप में हो जाए तो एकाग्रता अपने आप आ जाएगी। यदि उतना प्रियत्व मन्त्रजप में नहीं आ पाया तो भोग के प्रति जो आसक्ति बनी हुई है वह छूटेगी नहीं और न ही मन में एकाग्रता आएगी। ऐसा न होता तो साधना के लिए वैराग्य की क्या जरूरत होती! जिस प्रियत्व के साथ जगत् के शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इन विषयों को ग्रहण

किया है, उतना प्रियत्व जब जप में आ जाएगा, तो भोग के संस्कार टूट जाएँगे, इसके पहले नहीं।

जैसे किसी व्यक्ति को तनखवाह में दस हजार रुपये मिलते हैं, जिससे उसके घर का काम चलता है। आप उसे कहें कि नौकरी छोड़ दो तो क्या वह छोड़ सकता है! परन्तु आप उसे चुपचाप कह दें कि अमुक जगह नौकरी करो तो पन्द्रह हजार रुपये मिलेंगे तो वह उसी समय छोड़ देगा या नहीं! इसी प्रकार जब भजन में भोग से अधिक रस आने लगेगा तो भोग स्वतः छूट जाएँगे और मन जप में एकाग्र हो जाएगा। पर इसके लिए सत्सङ्ग और विचार के द्वारा मन्त्र और भजन के महत्व को बारम्बार दिमाग में बिठाना पड़ेगा। साथ ही लम्बे समय तक निरन्तर आदरपूर्वक मन्त्रजप का अभ्यास करना पड़ेगा।

मन्त्र और भगवान् का महत्व जब हमारे चित्त में ठीक से बैठ जाएगा तब मन अपने आप उधर जाएगा। अभी तो हम लोगों के मन में जगत् का महत्व बहुत बैठा हुआ है, इसलिए यह समस्या जल्दी जाती नहीं है। फिर भी मैं तो यही कहूँगा कि मन चाहे इधर-उधर जाए पर तुम भजन से नहीं उठना। अब कहो मन ही नहीं लगेगा तो फल क्या मिलेगा! अरे, तुम किसी मजदूर को बुलाओ और कहो कि बैठो अभी काम बताते हैं, तुम यदि काम बताना भूल गए तो भी शाम को उसे मजदूरी देनी पड़ेगी या नहीं! वह तुम्हारे लिए बैठा था, इसलिए देनी ही पड़ेगी। तुम भी भगवान् के लिए बैठे रहोगे चाहे मन लगे या नहीं, फल तो मिलेगा ही। इतना है कि मन लगने पर फल अधिक मिलेगा। इसलिए शरीर को जप के लिए बिठाओ, वाणी से कीर्तन करो तो मन धीरे-धीरे अपने आप लगेगा। ये सब उपाय मन लगाने के हैं।

*****

जिज्ञासा :- आगमग्रन्थों में शाम्भवोपाय और शाक्तोपाय की चर्चा प्रसिद्ध है - इनमें क्या भेद हैं?

समाधान :- जो तीव्रतमशक्तिपातविद्ध उत्तम साधक है उसके लिए आगमग्रन्थों में शाम्भवोपाय कहा गया है। शिवसूत्र नामक ग्रन्थ में शाम्भवोपाय की प्रक्रिया में प्रथम सूत्र आता है - **चैतन्यम् आत्मा** (१.१.)। आत्मा का स्वरूप चेतन है। अगले सूत्र में बन्ध का स्वरूप कहा - **ज्ञानं बन्धः** (१.२), भेदज्ञान ही बन्धन है। फिर आगे तीन मलों को कहकर साधना बताई - **उद्यमो भैरवः** (१.५)। इस उत्तम साधक को साधना के लिए स्व से भिन्न कोई सहायता नहीं लेनी पड़ती। उसको स्वरूप का बोध करा दिया, बन्धन का स्वरूप भी बता दिया, अब उसका प्रयास होता है - **उद्यमः**।

शिवत्व की अनुभूति के लिए उत्कट अभिलाषा ही ऐसे साधक का उद्यम है। वह आत्मानुसन्धान में लगकर झट भैरवभाव को प्राप्त हो जाता है। परिच्छिन्न अहंता को छोड़कर **एकोऽहं बहुस्याम्** (छा.उप.-६.२.३) - इस व्यापक अहंभाव में पहुँच जाता है, यही भैरवभाव है। **भरणात्** (सर्वत्र भरा होने से), **रमणात्** (सबमें रमण करने से), **वमनात्** (सम्पूर्ण विश्व को उगलने से) - **भैरवः**, इसी को ईश्वरभाव कहते हैं। इस साधक को सिद्धि पाने के लिए कोई अन्य उपाय गृहीत नहीं करना पड़ता।

यदि ऐसा तीव्रतमशक्तिपातविद्ध साधक नहीं है तो उपाय के बिना काम नहीं चल सकता। वह आत्मा के स्वरूप का श्रवण करने मात्र से भैरवभाव में नहीं जा सकता। तब उसके लिए शाक्तोपाय बताया जाता है। शिवसूत्र की शाक्तोपाय-प्रक्रिया में प्रथम सूत्र है - **चित्तं मन्त्रः** (२.१)। यह कैसे कह दिया ? इसका उत्तर है —

चित्तमेव शिवो ज्ञेयः प्रमाता निरुपाधिकः।
सर्वज्ञत्वादिगुणवान् दिक्कालकलनोज्झितः।
स्वात्मानुभवधर्मित्वात् स मन्त्र इति गीयते।।

(शिवसूत्र वार्तिक २.१.३)

उपाधि से रहित जो प्रमाताचित्त है वह शिवस्वरूप ही है। वह सर्वज्ञ है, देश काल का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। स्व-स्वभाव का परामर्शक होने से ऐसे चित्त को मन्त्र कहते हैं अथवा मन्त्रदेवता के अनुसन्धान में तत्पर, **उसके सामरस्य को प्राप्त साधक का चित्त ही मन्त्र है।** इस प्रकार के मन्त्र की सिद्धि का उपाय बताया - **प्रयत्नः साधकः** (२.२)। यदि साधक प्रमाताचित्त को निरुपाधिक रूप में स्थापित करना चाहता है तो उसे बहिर्मुखता छोड़नी पड़ेगी। क्षेत्रज्ञरूप में स्थिति पाने के लिए क्षेत्र-धर्मों को छोड़ना पड़ेगा, चित्त को अन्तर्मुख करना पड़ेगा। ऐसे अन्तर्मुख चित्त की आत्मस्वरूप शिव के ध्यान में तत्परता ही मन्त्रसिद्धि में साधक है।

शाक्तोपाय में मन्त्र और मुद्रा ये दो मुख्य आधार साधक के लिए रहते हैं। मन्त्रवीर्य और मुद्रावीर्य की प्राप्ति का उपाय कहा - **गुरुः उपायः** (२.६)। इन वीर्यों की प्राप्ति के लिए गुरु ही उपाय है।

इस साधना में आगे बढ़ने पर जो बाधाएँ आती हैं उनका भी शिवसूत्र में निर्देश किया है - **गर्भेचित्तविकासोऽविशिष्टो विद्या स्वप्नः** (२.४)। जब साधक निरुपाधिक भाव में पहुँचने के लिए साधना में लगता है तो आरम्भ और उस भाव की प्राप्ति के बीच में बहुत वैभव (सिद्धियाँ) प्रकट होता है। इस बीच की अवस्था को **गर्भ** शब्द से कहा है। अन्तर्मुख दशा में चित्त का जो विकास है वह **अविशिष्ट** अर्थात् अल्पज्ञत्वादि धर्मों से युक्त है। इस चित्त-विकास में, सिद्धियों की प्राप्ति में साधक को सन्तोष नहीं करना चाहिए। वह **विद्या** (अशुद्ध विद्या) रूप है, **स्वप्न** अर्थात् भ्रान्ति है।

साधक को सोचना चाहिए कि मन्त्रसिद्धि तो तब होगी जब चित्त **शुद्ध अहं** में पहुँच जाएगा। इसी मध्यावस्था को लेकर पातञ्जल योगसूत्र में भी कहा गया है - **ते समाधौ उपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः** (३.३८), ये सिद्धियाँ समाधि में विघ्न ही हैं।

इस सूत्र का कुछ विद्वान् दूसरी प्रकार से भी अर्थ करते हैं -

गर्भेचित्तविकासो विशिष्टोऽविद्या स्वप्नः (२.४), इस साधना से हुआ जो चित्त का विकास यह बहुत विशिष्ट है, यह इतना विशिष्ट है कि इसके उदय से जगत् रूप से विस्तार को प्राप्त अविद्या का स्वप्न अर्थात् विनाश हो जाता है। यह चित्त विकास (शिवत्व में आरूढ़ता) जगत् के रहस्य को खोल देता है। फिर यह जगत् भ्रमात्मक मालूम पड़ता है।

*****

जिज्ञासा :- सभी प्राणियों में सुख की इच्छा स्वाभाविक रहती है। व्यवहार में सुख तो विषयों से ही मिलता है, फिर उनसे वैराग्य कैसे हो?

समाधान :- गीता में भगवान् ने कहा है -

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।(५.२२)

चक्षु आदि इन्द्रियों को मात्रा कहते हैं और उनका अपने-अपने रूपादि विषयों के साथ जो स्पर्श (सम्बन्ध) होता है, उसे कहते हैं - **मात्रास्पर्श।** इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से प्राप्त होनेवाले सुख का नाम है - मात्रास्पर्शजन्य सुख। इसी सुख को यहाँ भगवान् ने **संस्पर्शजा भोगा** शब्दों से कहा है। सारे जगत् को जो सुख प्राप्त हो रहा है वह विषयसुख इसी प्रकार का है। परन्तु जगत् के लोग जिसे सुख कहते हैं उसके विषय में भगवान् कहते हैं कि वह दुःख की खदान है - **ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते,** इन्द्रिय और विषय के संयोग से प्राप्त होनेवाले जितने भी भोग अर्थात् सुख हैं वे सब दुःख के ही कारण हैं।

ऐसा क्यों है? तो इसका कारण बताया - **आद्यन्तवन्तः,** ये सभी सुख उत्पन्न होते हैं और थोड़ी देर में समाप्त हो जाते हैं। जो सुख स्वयं मृत्यु के मुख में पड़ा है वह तुम्हें सुख देगा या दुःख! साथ ही इस सुख में कितनी पराधीनता है। विषयों की पराधीनता, इन्द्रियों की पराधीनता, शक्ति की

पराधीनता, इस प्रकार की कई पराधीनताएँ हैं। एक समय व्यक्ति मिठाई खाने के लिए कल्पना करता है पर पैसे ही नहीं है तो कैसे खाए! मनोराज्य करते-करते सूखी रोटी खाकर सो जाता है तो सोचो वह कितना दुःखी होगा। एक समय ऐसा भी आता है जब जितनी चाहे उतनी मिठाई खरीद ले पर खा नहीं सकता क्योंकि डॉक्टर ने मना कर दिया है।

एक समय खा सकता था पर मिला नहीं, इसलिए दुःखी था और एक समय मिला पर खा नहीं सकता, इसलिए दुःखी है। जिस सुख में इतनी पराधीनता है और जो क्षणिक है वह सुख काहे का है! वह सुख आने-जानेवाला है और तुम सदा रहनेवाले हो। वह आया और तुमने उससे प्रेम कर लिया, दूसरे क्षण वह चला जाएगा तब तुम्हें दुःखी होना ही पड़ेगा। जो इसे समझ लेता है वह क्या करता है - **न तेषु रमते बुधः,** जो विवेकी है, बुद्धिमान् है वह कभी-भी विषय भोगों में अपना मन नहीं लगाता। जब तुम्हें यह ज्ञान पक्का हो जाएगा कि ये सब भोग दुःख हैं, सुख नहीं, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से प्राप्त होनेवाला जो भी सुख है, वह तुम्हें दुःखरूप ही दिखाई देगा, तब तुम इन विषयों के पीछे नहीं भागोगे। पर इसके लिए विचाररूपी उपाय तो तुम्हें ही करना पड़ेगा।

यह विवेक होने पर तुम ऐसे सुख की खोज करोगे जो नित्य हो। उस सुख के लिए तुम्हें बाहर जाने की कोई अपेक्षा नहीं है। तुम्हें केवल यह भ्रम छोड़ना पड़ेगा कि सुख बाहर है। सुख तो तुम्हारा स्वरूप है, स्वाभाविक है। यह रहस्य जब समझ में आएगा तब मन अन्तर्मुख होगा। अन्तर्मुख होकर स्वरूपस्थ होना ही सुखप्राप्ति का मुख्य उपाय है। वह सुख नित्य है, पर अभिव्यक्त नहीं है। तुम जब अन्तर्मुख होगे तो वह अभिव्यक्त हो जाएगा।

फिर समझ में आएगा कि प्रिय विषय मिलने पर राग के कारण हमारा

मन एकाग्र हो जाता है। ऐसे मन में हमारा स्वरूपभूत सुख प्रतिफलित हो जाता है। वह सुख विषय से नहीं आता। जैसे जब कुत्ता हड्डी चबाता है तब खून तो उसके मुख से ही निकलता है, पर वह समझता है कि हड्डी से निकल रहा है। विषयसुख भी स्वरूप का ही सुख है ऐसा विवेक जब पक्का हो जाएगा तब विषयों से स्वतः ही वैराग्य होगा।

*****

जिज्ञासा :- जीवन में तपस्या क्यों आवश्यक है?

समाधान :- तप शब्द का अर्थ होता है - तपाना। जैसे सोने को शुद्ध करने के लिए अग्नि में तपाते हैं, इसी प्रकार शरीर को भी तपाना पड़ता है। शरीर को अनशन से तपाते हैं, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख को सहन करना भी शरीर को तपाना ही है। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता भी तप है। गीता में तो शारीरिक, वाचिक और मानस भेद से तप का बहुत विस्तार से वर्णन है। उसके अनुसार तो देवता, गुरु आदि की सेवा, ब्रह्मचर्य-पालन, सत्य, स्वाध्याय, मौन, मन की प्रसन्नता, भावशुद्धि ये सभी तपस्या है। इनके द्वारा शरीर, वाणी और मन का संयम होता है, इन्हें तपाया जाता है।

इन्हें तपाने का फल होता है कि इनमें जितने भी दोष हैं, वे सब निकल जाते हैं। जैसे सोने को अग्नि में तपाने से उसका सारा मल निकल जाता है और उसका वास्तविक स्वरूप और चमक अभिव्यक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार तपस्या से व्यक्ति के मल क्षीण होकर उसका व्यक्तित्व चमक उठता है और उसे शक्ति प्राप्त होती है।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में शरीर की शुद्धि और पवित्रता पर बहुत जोर दिया गया है। इसका क्या लाभ है?

समाधान :- शास्त्रों में शरीर को शुद्ध और पवित्र रखने के लिए

शौच का वर्णन किया गया है। मिट्टी, गोबर, गोमूत्र, जल आदि से इसे शुद्ध रखना पड़ता है। अन्दर से तो क्या पवित्र होनेवाला है, पर बाहर से पवित्र रखना चाहिए। यह बहुत आवश्यक है। इसके लाभ योगसूत्र में बताए गए हैं –

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। (२.४०)

जो व्यक्ति अपने शरीर की पवित्रता का ध्यान रखता है उसको धीरे-धीरे शरीर से ग्लानि हो जाती है कि यह कभी पवित्र हो ही नहीं सकता। कितना ही शुद्ध कर लो, अशुद्ध ही रहेगा। इसलिए उसे शरीर से वैराग्य हो जाता है। दूसरा लाभ यह होता है कि जो शरीर को पवित्र रखता है उसका अपवित्र से सम्बन्ध नहीं बनता। अन्य लोगों के शरीर से संसर्ग की उसको कभी इच्छा भी नहीं होती। इसके अलावा वहीं शौच के अन्य लाभ गिनाए गए हैं –

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च (२.४१)

शरीर को शुद्ध रखने से मन की शुद्धि होती है, मन में हमेशा प्रसन्नता बनी रहती है। शौच से मन की एकाग्रता बढ़ाने में और इन्द्रियों का संयम करने में भी बहुत सहायता मिलती है। यहाँ तक कि यदि बाह्यशौच का पूर्णरूप से पालन किया जाए तो व्यक्ति में आत्मज्ञान की योग्यता आ जाती है। इसलिए शरीर की शुद्धि साधना में बहुत आवश्यक है, इसकी कभी-भी उपेक्षा नहीं करना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- पूर्वजन्म की बातें स्मरण में आएँ इसके लिए कौन-सी साधना करनी चाहिए?

समाधान :- वैसे तो योगशास्त्र में कहा गया है कि साधक में अपरिग्रह की प्रतिष्ठा होने पर उसे पूर्वजन्म का ज्ञान होता है -

अपरिग्रहस्थैर्येजन्मकथन्तासम्बोधः (योगसूत्र-२.३९)

परन्तु हमारे विचार से तो पिछले जन्म का स्मरण आए इसके लिए साधना करना ही बेकार है। इसी जन्म का जितना है उसी से परेशान हो, पिछले जन्म का याद आ जाएगा तो और परेशान हो जाओगे। यह बहुत ही गलत संकल्प है। अपनी बुद्धि से पिछले जन्म का अनुमान कर लो, जैसा बीज बोया था, वैसा काट रहे हो, इसी से पिछला जन्म जान लो। जो सुख-दुःख मिल रहा है, इसी से अनुमान कर लो कि पिछला जन्म कैसा था और जो अब बो रहे हो इससे अगले जन्म को जान लो। इसके लिए साधना करने की क्या जरूरत है! उन सबको याद करोगे तो बहुत बड़ी हानि ही होगी।

*****

जिज्ञासा :- अपनी साधना के विषय में किसी के संशय उठाने पर यदि हमारे मन में विचलन होता है तो मन को सामान्य करने एवं स्वयं में दृढ़ता लाने के लिए क्या उपाय है?

समाधान :- साधक को पहले समझना चाहिए कि उसकी साधना किसी गुरु-परम्परा से प्राप्त है अथवा नहीं, यह मुख्य चीज है। यदि आप पुस्तक देखकर कुछ साधना करेंगे तो उसके बारे में संशय उठाकर कोई भी आपको विचलित कर सकता है। परन्तु यदि आपको गुरु-परम्परा से शास्त्रीय साधना प्राप्त है तो उसके विषय में संशय उठाए जाने पर आपके मन में कभी-भी विकल्प नहीं होना चाहिए। साधना का सारा आधार श्रद्धा और विश्वास है।

सभी के लिए एक समान साधना नहीं होती है, प्रत्येक साधक के लिए उसका गुरु सर्वोत्तम है। वह उसे उसकी योग्यता के हिसाब से साधना बताता है। एक ही लक्ष्य के लिए कोई पैदल जाता है, कोई कार से जाता है तो कोई हवाई-जहाज से। जिसके पास पैसा नहीं है, वह हवाई-जहाज से नहीं जा सकता। इसी प्रकार एक ही लक्ष्य पर पहुँचने के लिए अनेक साधनाएँ हैं, कोई जल्दी तो कोई देर से पहुँचाती है। सभी लोग चाहें कि हम जल्दीवाली

साधना करें तो यह सम्भव नहीं क्योंकि उसके लिए विशेष योग्यता अपेक्षित है। इसीलिए अलग-अलग साधकों के लिए साधना भी अलग-अलग होती है। इसी कार्य के लिए गुरु की आवश्यकता है। वह जानता है कि शिष्य की स्थिति कहाँ है, उसी के अनुसार उसे साधना बताता है। इसलिए बिना गुरु-परम्परा से प्राप्त हुए कोई भी साधना फलदायक नहीं हो सकती।

साधक को अपनी गुरुप्रदत्त साधना में बहुत दृढ़ होना चाहिए, उसके विषय में कभी संशय न करे। मानस में आता है कि नारद ने शिवप्राप्ति के लिए उमा को साधन का उपदेश किया और उसके आधार पर वह तपस्या में लग गई। बाद में सप्तर्षियों ने आकर उन्हें बहुत संशय में डालने का प्रयास किया। यहाँ तक कहा कि नारद के उपदेश से कभी किसी का कल्याण नहीं हो सकता। उमा ने उत्तर दिया -

तजउँ न नारद कर उपदेसू। आप कहें सत बार महेसू।।

(मानस, बाल.-८०.३)

शिवजी कहें तो भी मैं साधना नहीं छोड़ूँगी क्योंकि इससे ही तो शिव मिलेंगे। ऐसी दृढ़ता से ही साधना सफल होती है। दूसरी बात ध्यान देने की है कि साधना वास्तव में वही है जो हमें परमेश्वर की ओर उन्मुख करे, उनके निकट ले जाए। हमारे अन्दर जो दोष हैं, वे निकलते जाएँ, जगत् का रस कमजोर पड़ता जाए तभी हमारी साधना ठीक है। यदि ऐसी स्थिति नहीं प्राप्त हो रही है तब भी उसे किसी के कहने से विचलित नहीं होना चाहिए। किसी महापुरुष से पूछना चाहिए कि मैं इस प्रकार की साधना कर रहा हूँ, परन्तु आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो रही, इसमें क्या हेतु है? महापुरुष आपकी बात को समझकर साधना में जो कमी होगी उसे दूर करने का उपाय बता देंगे, फिर आप अपनी साधना में लग सकते हैं।

*****

जिज्ञासा :- मैं मनोनिरोध के अभ्यास के लिए एक साधना कई दिन से कर रहा हूँ, पर अपेक्षित लाभ नहीं मिल रहा है। क्या कोई अन्य साधना-क्रम अपनाना उचित होगा ?

समाधान :- दुनिया भर की साधनाएँ दिमाग में बिठाकर कोई साधना ठीक से नहीं होती। सब ग्रन्थों की साधनाएँ आप याद कर लें उससे कोई लाभ तो होनेवाला नहीं है। साधना के लिए तो कहा जाता है -

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः (योगसूत्र-१.१४)

साधना के लिए बहुत धैर्य रखना पड़ता है। देखो ! उमा ने शिवप्राप्ति के लिए कितना धैर्य रखा -

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी।।

(मानस-बाल.- ८०.३)

उसका धैर्य ऐसा था कि करोड़ों जन्म हो जाएँ तब भी मैं बार-बार जन्मूँगी और मरूँगी, लेकिन अपनी साधना पूरी करूँगी। यहाँ तो लोग दो दिन में ही साधना की परीक्षा करने लगते हैं। इसलिए साधना दीर्घकाल तक करनी पड़ती है। कितने सालों के विपरीत संस्कार आपके अन्दर हैं, क्या आप उन्हें जानते हैं ? कुछ दिन साधना करने से कैसे काम होगा !

दूसरी बात साधना को सत्कारपूर्वक, आदरपूर्वक करना पड़ता है। साधना को केवल औपचारिक रूप से नहीं करना चाहिए। साथ ही इसे निरन्तर करना पड़ता है, तब जाकर साधना की दृढ़भूमि बनती है।

पुराने महात्मा तो कहते थे कि बारह वर्ष करने पर साधना का आधार तैयार होता है। आज के युग में तो वैसे भी रजोगुणी, तमोगुणी माहौल है, मन के संस्कार प्रायः खराब रहते हैं, तो कुछ दिन में साधना से लाभ कैसे होगा ? तुम लोग तो किसी साधना की दृढ़भूमि बनाते नहीं और किसी के कहने पर दूसरे मन्त्र में लग जाते हो। ऐसे तो तुम्हारी कहीं निष्ठा नहीं बनेगी और जीवन व्यर्थ बीत जाएगा। इसलिए एक साधना को पकड़कर दीर्घकाल

तक अभ्यास करो तो कुछ अनुभव होगा।

*****

जिज्ञासा :- कुछ महात्मा कहते हैं कि दो वृत्तियों के मध्य में मन को स्थिर करना चाहिए - इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान :- ये सब चित्त को एकाग्र करने के साधन हैं। दो वृत्तियों की जो सन्धि है, वहाँ कोई वृत्ति नहीं है इसलिए कोई विशिष्टता भी नहीं है। उसमें आप ध्यान केन्द्रित करेंगे तो आपका चित्त जल्दी ही एकाग्र हो जाएगा। पर आप यह वृत्ति, यह वृत्ति और यह इनकी सन्धि - इस प्रकार सोचेंगे तो उसको भी विशिष्ट बना देंगे। वहाँ कोई वृत्ति नहीं है तभी तो दो वृत्तियों के बीच ऐसा कहा। वहाँ लक्षित करने की बात है। उस वृत्ति-अभाव से लक्षित जो लक्ष्य चैतन्य है उसमें ध्यान करने पर चित्त सरलता से एकाग्र हो जाता है। अभ्यास करने पर हो सकता है कि उस लक्ष्य को लेकर आपका चित्त निर्विकल्प भी हो जाए।

*****

जिज्ञासा :- एक साधक ने पहले कहीं से मन्त्रदीक्षा लेकर काफी समय तक जप भी किया है। बाद में अन्य किसी से ध्यानविधि की दीक्षा भी ले ली है। परन्तु मन में गुरुमन्त्र और गुरुजी का ध्यान हमेशा रहता है, ध्यान-साधना में मन नहीं लगता। ऐसे में क्या करें ?

समाधान :- साधक के मन में पहले गुरु का और मन्त्र का महत्व बैठा हुआ है तब दूसरी साधना में मन कैसे लगेगा। पर एक बात है कि मन्त्र का कार्य पूरा होगा तो जो ध्यान साधना आपने चुनी है उसी में वह जुड़ जाएगा। आपको यही करना है कि इसे एक अलग साधना मत मानिए, बल्कि इसका सम्बन्ध अपने मन्त्र और पूर्व गुरु के साथ ही जोड़िए। गुरु एक ही होता है, आप ज्ञान बहुत जगह से ले सकते हैं, पर उसे अपनी साधना के

साथ ही जोड़ना चाहिए। मन्त्र-साधना को अलग और ध्यान-साधना को अलग, इस प्रकार आप समझेंगे तो न इधर के बनेंगे और न उधर के, बुद्धि भेद हो जाएगा।

इसलिए गीता में भी गुरु के लिए निर्देश किया है —

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।(३.२६)

कभी-भी शिष्य की बुद्धि में भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिए। आपके मन में जो भेद उत्पन्न हो गया है उसे हटाइए। अभी तो मन्त्रजप और गुरुस्मरण को ही दृढ़ कीजिए। इसी में अपनी ध्यान-साधना को जोड़िए तब उसका सदुपयोग आप कर पाएँगे।

*****

जिज्ञासा :- संसार से दृढ़ वैराग्य होकर आत्मसाक्षात्कार की ओर प्रवृत्ति कैसे हो?

समाधान :- एक बात समझना चाहिए कि जगत् से वास्तविक वैराग्य तभी हो सकता है जब व्यक्ति किसी ऐसी चीज को जान ले जो जगत् से ऊपर है, जिसमें जगत् सम्बन्धी सभी दोषों का अभाव है। जैसे व्यक्ति दस हजार की नौकरी तब तक नहीं छोड़ सकता जब तक कहीं दूसरी जगह उसे बीस हजार की नौकरी न मिल जाए। जब तक व्यक्ति के मन में सत्सङ्ग का महत्व नहीं बैठेगा तब तक वह टी.वी., सिनेमा को कैसे छोड़ेगा? शास्त्र कहता है —

यो अशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति (बृह.उप.-३.५.१)।

देखो, मनुष्य जीवन में सबसे बड़ी समस्या अशनायापिपासा अर्थात्

भूख-प्यास की है। सारा जगत् इससे त्रस्त है। जो कुछ व्यक्ति करता है सब इसके लिए ही करता है। चाहे अन्न की भूख हो अथवा किसी भी अन्य विषय की। रूप-रस-गन्ध आदि अनुभव करने की तृष्णा भी एक तरह से भूख-प्यास ही है। इससे उबरना बड़ा मुश्किल है, पर शास्त्र बताता है कि एक स्थान ऐसा है जहाँ पहुँचने पर भूख-प्यास की समस्या समाप्त हो जाती है। उस स्थान का कितना बड़ा महत्व होगा, समझ लो!

जगत् में दूसरी समस्या यह है कि **शोक-मोह** लगा ही रहता है। प्रिय वस्तुओं में न चाहने पर भी जबरन मोह हो जाता है और जब उनका वियोग होता है तो शोक भी अनिवार्य रूप से होता है। तीसरी समस्या है **जरा** (बुढ़ापा) और **मृत्यु** की। कितनी भी दवा खाओ, कितना ही प्राणायाम करो, बुढ़ापा आएगा ही। उस समय व्यक्ति के हाथ-पैर भी उसका कहना नहीं मानते, लोगों का अपमान भी सहना पड़ता है, बड़ा ही दुःख है इस अवस्था में। मृत्यु का भय तो सबको लगा ही है। जो कुछ परिवार बनाया था, बैंक-बैलेंस, खेती-बाड़ी सब छूट जाएगा।

सांसारिक व्यक्ति इन समस्याओं में रहते हुए ही किसी प्रकार थोड़े बहुत सुख का अनुभव करना चाहता है, पर चाहे कोई कितना ही कर्म कर ले - इन समस्याओं से नहीं छूट सकता। शास्त्रीय कर्म करने से बहुत-से भोग मिल सकते हैं, स्वर्ग मिल सकता है, इस लोक में यश फैल सकता है, परन्तु ये शास्त्रीय कर्म भी अशनाया-पिपासा, शोक-मोह और जरा-मृत्यु से नहीं छुड़ा सकते।

इनसे परेशान होकर व्यक्ति ऐसी जगह की खोज करता है जहाँ इनसे छुटकारा मिलेगा। उसकी खोज करते-करते शास्त्र उसे बताता है कि वह तुम्हारा स्वरूप ही है, आत्मा ही है जहाँ तुम्हारे जीवन की सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान है। इस प्रकार शास्त्र के द्वारा आत्मविषयक परोक्ष

ज्ञान होता है। यह ज्ञान विश्वसनीय है क्योंकि शास्त्र-प्रमाण से होता है। इस ज्ञान को अपरोक्ष करने की योग्यताप्राप्ति के लिए शास्त्र निष्काम कर्म का मार्ग बताता है। फल की इच्छा छोड़कर ईश्वर के लिए कर्म करने से चित्त शुद्ध होता है। इस शुद्ध चित्त में आत्मा के परोक्ष ज्ञान के बल पर जब व्यक्ति को जगत् से वैराग्य होता है तो उसका नाम ब्राह्मण हो जाता है। वह अपने स्वरूप को अर्थात् ब्रह्म को जानना चाहता है इसलिए उसे श्रुति **ब्राह्मण** कहती है।

श्रुति आगे कहती है कि यदि तुम्हें अपने स्वरूप में पहुँचना है तो जगत् की एषणाओं (इच्छाओं) से ऊपर उठना होगा। शास्त्र ने उसे एक ऐसी चीज बता दी है जहाँ जगत् की सभी समस्याओं का अन्त है, इसी ज्ञान के बल पर वह एषणाओं का त्याग कर देता है। जब कोई एषणा नहीं रही तो कर्मों का प्रयोजन भी समाप्त हो जाता है, तब वह व्यक्ति संन्यास लेता है। अब उसका एक ही लक्ष्य रहता है – जिस आत्मा के बारे में शास्त्र से सुना था, उसी का अपरोक्ष साक्षात्कार करना। यहाँ जगत् के साधन उसके लिए काम नहीं आएँगे, बल्कि शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा ही उसकी सम्पत्ति होगी। इन्हीं के बल पर वह आत्मसाक्षात्कार की ओर प्रवृत्त हो सकता है। जगत् से हटकर आत्मज्ञान की ओर जाने का यह एक शास्त्रीय मार्ग है।

*****

जिज्ञासा :- एक जगह रहकर साधना करने पर यदि वहाँ की परिस्थितियों से साधक को विक्षेप हो तो उसे क्या करना चाहिए?

समाधान :- साधक को सावधान रहना चाहिए। जैसी स्थिति प्राप्त हो उसके अनुसार रहे। पूरे मन से अपने साधन में लगे रहे, दुनिया में तो सब होता रहता है। योग-साधना, अनुष्ठान आदि साधन तो एक जगह

रहकर ही करने पड़ेंगे। अपनी ओर से सबके साथ प्रेममय व्यवहार रखे, अपने काम से काम रखे और सामाजिक स्थिति में जितना जरूरी हो, उतना काम कर दे। अपना पूर्ण ध्यान अपने साधन में लगाकर रखे। कहीं भी जाओगे, कुछ विक्षेप तो रहेगा ही। इस संसार में खट-पट और हल्ला-गुल्ला होता रहता है। उसे रोकने की अपेक्षा अपने कानों में रुई डाल दी जाए तो अच्छा रहेगा। कहाँ-कहाँ किससे कहोगे कि तुम लाउडस्पीकर मत बजाओ या हल्ला मत करो और कौन तुम्हारी सुननेवाला है!

एक बार एक यात्री घोड़े पर जा रहा था, रास्ते में देखा कुँए पर एक आदमी रहट से पानी खींच रहा था। वह अपने घोड़े को पानी पिलाने गया तो घोड़ा उस रहट की खट् खट् आवाज सुनकर भागने लगा। तब यात्री ने कहा, 'थोड़ी देर यह खटर-पटर मत करो, जरा हमारा घोड़ा पानी पी ले।' जब उस व्यक्ति ने रहट रोक दी तो पानी बन्द हो गया। यात्री ने कहा, 'अरे भाई! घोड़े को पानी पिलाना है, जरा पानी आने दो।' तो फिर खटर-पटर होने लगी। जब यात्री ने फिर कहा कि हमारा घोड़ा बिदक रहा है, आवाज बन्द करो, तब रहटवाला बोला, 'महाराज! आप अपने घोड़े का कान पकड़कर उसे पानी पिला लो क्योंकि खटर-पटर के बिना पानी मिलनेवाला नहीं है।'

इसी प्रकार इस जगत् में आप बिना खटर-पटर के नहीं रह सकते। आप कहीं एकान्त में जाकर रहोगे तो कुछ दिन बाद वहाँ भी लोग आ जाएँगे और चलते रहोगे तो साधन नहीं बनेगा। इसलिए अच्छा यही है कि बाहर की उपेक्षा करके अपने साधन में ध्यान दिया जाए।

*****

जिज्ञासा :- भजन करते समय भीतर से यदि नाद ध्वनि सुनाई पड़े तो क्या इसका स्वरूप प्राप्ति में कुछ उपयोग है?

समाधान :- भजन करते-करते एकाग्रता बढ़ने पर साधक को भीतर

-ही-भीतर शब्द सुनाई पड़ते हैं जिन्हें नाद कहा जाता है। साधना-मार्ग में इसका यही महत्व है कि यदि आपको नाद-श्रवण हो रहा है तो समझ सकते हैं कि आपने साधना में प्रगति की है, आपकी साधना ठीक चल रही है। नाम की विशुद्ध अवस्था नाद है, वहाँ तक आप पहुँचे, इसका अर्थ है आपका मन काफी एकाग्र हो गया है। परन्तु नाद स्वरूप नहीं है, स्वरूप तो उसके ऊपर है। जैसे आप बदरीनाथ की यात्रा पर जा रहे हैं और कोई बताए कि आपको रास्ते में ऋषिकेश, देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग पड़ेंगे और चलने पर आपको ये स्थान मिलते जाएँ तो आप समझेंगे कि हम ठीक मार्ग पर चल रहे हैं। इसी प्रकार नाद-श्रवण होने से आप समझ सकते हैं कि हमारा मार्ग ठीक है।

नाम-रूप ये दो ही साधना मार्ग के सहारे हैं। नाम का सहारा लेकर जो साधक चलता है उसे नाद-ध्वनि सुनाई पड़ती है। नाद नौ प्रकार के होते हैं, उनमें से अन्तिम नाद तक पहुँच गए तो आप स्वरूप के बहुत निकट पहुँच जाते हैं।

*****

जिज्ञासा :- विद्वान् लोग कहते हैं - वेदान्त समझने के लिए शास्त्रों का अध्ययन करना आवश्यक है। दूसरी ओर उपनिषद् कहता है - **नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् (बृह. उप.- ४.४.२१),** अर्थात् बहुत शब्दों का अध्ययन नहीं करना चाहिए। इस विरोधाभास का समाधान क्या है?

समाधान :- आपका जो लक्ष्य है उसके अनुकूल शब्द ही आपको उसकी ओर ले जा सकते हैं। आपने घर छोड़ा ईश्वर-प्राप्ति के लिए, उसमें जो सहायक शब्द हैं वही आपको ईश्वर तक पहुँचाएँगे। साधु बनने के बाद आपकी ऐसी वृत्ति हो गई कि न्याय भी पढ़ लें, सांख्य भी पढ़ लें, व्याकरण के बड़े ग्रन्थ भी पढ़ लें, ऐसा करते-करते क्या फायदा है! भगवान् भाष्यकार

तो इस मन्त्र का यही अर्थ करते हैं कि साधक उपनिषद् से अतिरिक्त शब्दों का त्याग करे। उपनिषद् आपको सीधे परमेश्वर की ओर ले जानेवाले ग्रन्थ हैं। उनका गुरुमुख से भली-भाँति श्रवण करके आप निष्ठापूर्वक मनन, निदिध्यासन कीजिए। यही आपको लक्ष्य पर पहुँचाएगा। यह भी पढ़ लें, वह भी पढ़ लें इसी चक्कर में पड़े रहे और बीच में ही शरीर छूट गया तो क्या होगा?

इस जीवन का कोई ठिकाना नहीं है। मृत्यु आने पर आपको एक क्षण भी अतिरिक्त नहीं मिल सकता।

आयुष्यक्षण एकोऽपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते।
नीयते तद् वृथा येन प्रमादः स महान् भवेत्।।
(योगसूत्र कारिका -१.३.११२)

कितनी भी बड़ी सम्पत्ति से आप आयु का एक क्षण भी खरीद नहीं सकते। सिकन्दर भारत से लौटते समय बीमार पड़ा तो वैद्यों ने कहा अब बचने की कोई आशा नहीं है। वह भारत से सत्रह सौ खच्चरों पर रत्न लादकर ले जा रहा था। उसने कहा मैं ये सब उसे दे दूँगा जो मेरी आयु बढ़ा देगा, पर कोई तैयार नहीं हुआ। इतना दुर्लभ जो क्षण है उसके विषय में सोचना चाहिए कि हमारा प्रत्येक क्षण हमारे लक्ष्य के अनुकूल बीत रहा है अथवा नहीं। आप केवल शब्दशास्त्र में पड़े रहेंगे तो मोक्ष नहीं मिल सकता —

न शब्दशास्त्रेऽभिरतस्य मोक्षः(आपस्तम्बस्मृति)

इसलिए तत्त्व को जानने के लिए जितना आवश्यक है उतना साधक को पढ़ लेना चाहिए और तत्त्व को समझकर बाकी सब शब्दों को छोड़ देना चाहिए। यदि हमारे लक्ष्य के प्रतिकूल वस्तु में हम फँसे हैं तो बहुत बड़ा प्रमाद कर रहे हैं। वह तो वाणी का परिश्रम मात्र है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कुछ पढ़ना नहीं चाहिए, पहले तो पढ़कर तत्त्व को समझना पड़ेगा। फिर

शास्त्रों को छोड़ दे।

*****

जिज्ञासा :- परमार्थ-तत्त्व का विचार करने के लिए कितने शास्त्राध्ययन की आवश्यकता है?

समाधान :- जितने से तत्त्व हृदय में बैठ जाए उतना पढ़ना आवश्यक है। जब हम शुरुआत में अपने गुरुजी के पास सेवा में रहे तो रात में सेवा के समय वे शास्त्र की बातें समझाते रहते थे। इस प्रकार दो-तीन महीने बीत गए। फिर जब मैं कोई ग्रन्थ पढ़ता तो मुझे लगता कि यह मेरा पढ़ा हुआ है। शास्त्रों का तात्पर्य आपकी समझ में आ जाए तो वह पर्याप्त है। तत्त्व-चिन्तन के लिए बहुत ग्रन्थ पढ़ने की आवश्यकता नहीं हैं। हमने ऐसे महात्माओं को देखा है जो तत्त्वबोध, आत्मबोध, अपरोक्षानुभूति और विवेकचूड़ामणि इतने ही ग्रन्थ पढ़ते थे, परन्तु उनकी अद्वैत-निष्ठा बहुत पक्की रहती थी। पुराने सन्त ऐसा भी कहते थे कि यदि साधक उत्तम अधिकारी है और केवल मोक्ष ही चाहता है तो उसके लिए माण्डूक्य उपनिषद् का अध्ययन ही तत्त्व-चिन्तन और ज्ञानप्राप्ति के लिए पर्याप्त है।

माण्डूक्यमेकमेवाऽलं मुमुक्षूणां विमुक्तये। (मुक्तिकोपनिषद्-१.२६)

मुख्य बात यह है कि आपमें वैराग्य, विवेक और चिन्तन के प्रति निष्ठा होनी चाहिए। अब यह निर्णय आप करें कि आपको क्या-क्या अध्ययन करना है।

*****

जिज्ञासा :- जो व्यक्ति अधिक शास्त्रादि नहीं पढ़ा है, केवल कुछ सत्सङ्ग करता है, वह आत्मविचार किस प्रकार करे?

समाधान :- आत्मविचार पुस्तक से थोड़े ही होता है। जो आप सत्सङ्ग में सुनते हैं, उसी का विचार कीजिए। इस विचार में तो आप बहुत

स्वतन्त्र हैं, पहले शरीर को लेकर ही विचार शुरू कीजिए। शरीर, प्राण, मन आदि मुझसे भिन्न हैं, यह विचार कीजिए। जब तक आप पुस्तक से वेदान्त का विचार करते हैं, तब तक वह वास्तविक विचार नहीं होता। अभी तो हम पुस्तकों में भाष्य, टीका आदि की पंक्तियाँ मात्र लगाते हैं।

जब आपके अन्दर से विचार उठेगा कि **मैं कौन हूँ,** अपने को जानने के लिए तड़पन होगी तो चलते-फिरते काम करते हुए भी वही विचार होगा। जिस चीज में आपके मन का राग रहता है, चलते-फिरते उसी का विचार आता है। इस विचार में जब कोई शंका होगी तो आप किसी अनुभवी महात्मा से पूछ लेंगे! आपको युक्ति बता दी जाएगी कि जो भी जाना जा रहा है, वह मुझसे अलग है, **यह** है और जाननेवाला **मैं** है। इसी को लेकर आप विचार में लगेंगे तो शरीर, मन आदि को अपने से पृथक् जान लेंगे। इसलिए आत्मविचार के लिए बहुत पढ़े-लिखे होने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है तो **जिज्ञासा** और **सत्सङ्ग** की।

*****

जिज्ञासा :- मोक्ष के लिए विचार ही साधन है, ऐसा क्यों कहा जाता है?

समाधान :- हमारा स्वरूप माया से ढँका है, यही बन्धन है। माया अथवा अज्ञान के आवरण को दूर करने के लिए विचार ही साधन है। विचार से सचाई ऊपर आती है। आपको सचाई को समझना है तो वहाँ विचार ही प्रधान साधन होगा। जब तक सचाई ऊपर नहीं आएगी तब तक आपका ज्ञाननेत्र खुलनेवाला नहीं है। इसलिए अज्ञान हटाने के लिए विचार ही साधन है।

परन्तु और कोई साधन नहीं है, ऐसी बात नहीं। आप मन और इन्द्रियों का निग्रह नहीं करेंगे तो विचार कैसे कर पाएँगे? ये विषय आपको

बाहर दौड़ाते रहेंगे तो आपका विचार जगत् के विषय में होता रहेगा। ऐसा विचार परमार्थ में किसी काम का नहीं है। इसलिए जब शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा और वैराग्य ये सब रहेंगे तभी आपका विचार परमार्थ की ओर जाएगा और वही विचार आपको मोक्ष की ओर ले जाएगा।

*****

जिज्ञासा :- गीता के त्रयोदश अध्याय में ज्ञान साधनों के अन्तर्गत बताए गए **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्** और **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्** - इन दो साधनों का अनुष्ठान किस प्रकार किया जाए?

समाधान :- वहाँ भगवान् भाष्यकार के अनुसार **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्** का अर्थ है आत्मज्ञान-प्राप्ति में अर्थात् उसके साधनों में निरन्तर लगे रहना। **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्** का अर्थ बताया कि तत्त्वज्ञान का जो अर्थ (प्रयोजन) अर्थात् मोक्ष है, उसपर दृष्टि लगाए रखना चाहिए, उसे ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। मोक्ष का साधन अध्यात्मज्ञाननित्यत्व है। साधक को अपने लक्ष्य को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए तभी साधन में तत्परता आएगी। इसीलिए जो मोक्षार्थी है उसे अध्यात्मज्ञान के साधनों श्रवण, मनन, निदिध्यासन, शम-दमादि के अनुष्ठान में बिना प्रमाद किए निरन्तर लगे रहना चाहिए, तभी वह अपने लक्ष्य मोक्ष की ओर जा सकता है।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में सन्तोष को परम लाभ कहा गया है - **सन्तोषः परमो लाभः।** इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान :- जगत् की वासनाओं का यह नियम है कि जितना आप उनको पूरा करते जाइए, उतनी ही बढ़ती जाती हैं। यह जो कामना है इसके दोनों ओर खतरा है। यदि कामना पूरी हो तो लोभ बढ़ जाएगा और यदि कोई इसमें विघ्न कर दे तो क्रोध आ जाएगा - **कामात्क्रोधोऽभिजायते (गीता-२.६२)।**

इसी पुस्तक की पृष्ठ संख्या 137 की **जिज्ञासा** के अधुरे **समाधान** को पूर्ण करके इस पर्ची में लिख दिया है। पाठकजनों से अनुरोध है कि वे इसे सम्मिलित करके पढ़ें।

जिज्ञासा :- क्या सचमुच इसी जन्म में मोक्ष हो सकता है? इसके लिए कैसी तड़पन होनी चाहिए?

समाधान :- अरे! मनुष्य-शरीर इसी कार्य के लिए मिला है। भागवत में कहा है भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणियों के शरीर बनाने पर भी परमेश्वर सन्तुष्ट नहीं हुआ, पर जब मनुष्य-शरीर बना दिया तो प्रसन्न हो गया क्योंकि मनुष्य-शरीर में बुद्धि का ऐसा विकास है जिससे जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मनुष्य जन्म में मोक्ष नहीं हुआ तो फिर और कहाँ होगा!

तड़पन का अर्थ है कि आप के अन्दर प्रतिक्षण यही प्रतीति हो कि देखो! समय निकल रहा है और हमने अभी तक तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया। इस प्रकार से लक्ष्यप्राप्ति के लिए जो तीव्रता से प्रतीक्षा होती है, वह तड़पन------

----

इस कामना का पेट कोई नहीं भर सकता। इसीलिए गीता में इसे महाशनः कहा गया है। यदि इसका पेट कोई भर सकता है तो वह एकमात्र सन्तोष ही है। जब आप निश्चय कर लेंगे - **अलम्** अर्थात् बहुत हो गया, हमें अब कुछ नहीं चाहिए, तभी कामना रुक सकती है। परमार्थ मार्ग का जो सबसे बड़ा शत्रु काम है उसे सन्तोष से ही जीत सकते हैं।

योगदर्शन के विभूतिपाद में **जैगीषव्य** और **आवट्य** ऋषियों का संवाद बताया गया है। दोनों को अपने अतीत जन्मों का बहुत ज्ञान था। आवट्य ने जैगीषव्य से पूछा कि आपने विभिन्न योनियों में जन्म लिया, किस योनि में आपको सर्वाधिक सुख मिला। उन्होंने कहा जो कुछ सुख मिला वह सब दुःख पक्ष में ही पड़ा है अर्थात् दुःख ही है - **दुःखमेव सर्वं विवेकिनः (योगसूत्र-२.१५)**। संसार में वस्तुओं के मिलने से कुछ देर शान्ति मिलती है तो मालूम पड़ता है कि सुख मिल रहा है। सिर का बोझा कन्धे पर रख लेते हैं तो कुछ देर मालूम पड़ता है कि भार कम हो गया है, पर फिर वही भार कन्धे में मालूम पड़ने लगता है। इसलिए संसार में एक ही सुख है और वह है सन्तोष। सन्तों ने भी कहा है –

गोधन गजधन बाजिधन और रतनधन खान।
जब आवे सन्तोषधन सब धन धूलि समान।।

जितना भी ऐश्वर्य या वैभव है, पद-प्रतिष्ठा है उसमें हाय! हाय! लगी रहती है। परिणाम में दुःख ही प्राप्त होता है। इस दुःख से छूटने का उपाय सन्तोष ही है। इसलिए उसे परम लाभ कहा जाता है।

*****

जिज्ञासा :- क्या सचमुच इसी जन्म में मोक्ष हो सकता है? इसके लिए कैसी तड़पन होनी चाहिए?

है। शबरी के गुरु मतङ्ग ऋषि थे। देवराज इन्द्र स्वयं उन्हें अपने लोक में ले जाने के लिए विमान लेकर आए। उनके साथ उनके आश्रम के

सभी लोग विमान में बैठ गए तब मतङ्ग ऋषि ने शबरी से कहा रामजी वनवास में हैं, वे यहाँ अवश्य आएँगे। उनके आतिथ्य सत्कार के लिए तुम यहीं रुको। उनके दर्शन के बाद तुम मेरे पास चली आओगी।

गुरु आज्ञा मानकर शबरी वहीं रुक गयी। प्रतिदिन आश्रम को लीपना, अच्छे-अच्छे फल-फूल ले आना और शाम तक रामजी की प्रतीक्षा करना, यही उसकी जीवनचर्या हो गई। शाम को सोचती थी कि आज नहीं आए तो क्या हुआ, कल तो रामजी जरूर आएँगे। बारह वर्ष बीत गए, पर उसकी जीवनचर्या नहीं बदली, रामजी कल अवश्य आएँगे यह विश्वास बना रहा। अपनी साधना में यह जो निष्ठा है, यही तड़पन है। साधक को इसी प्रकार सोचना चाहिए कि आज मैं अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर पाया तो जरूर कोई गलती रह गई, कल जरूर प्राप्त कर लूँगा। लक्ष्यप्राप्ति के लिए यह तत्परता और निष्ठा ही तड़पन है, कोई रोना-गाना या विलाप नहीं।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्र में अहंता-त्याग की बात बहुत आती है। उस अहंता के त्याग के लिए भी अहं की आवश्यकता रहती है। बिना अहं के त्याग कैसे होगा?

समाधान :- बहुत बातें ऐसी होती हैं जिनको कहना भी कठिन होता है और समझना भी। जैसे अर्पण या त्याग की जहाँ बात आती है कि मैं यह अर्पण करता हूँ, स्तुति करता हूँ, वहाँ पर अहंता ही कर्ता बनती है। परन्तु जहाँ अहंता का अर्पण करना होता है वहाँ कर्ता कौन बनेगा? ऐसी जगह पर अहंता कर्ता नहीं बनती। वस्तु का महत्व जहाँ समाप्त हुआ कि उसके त्याग के लिए कुछ प्रयास नहीं करना पड़ता है, वह स्वतः छूट जाती है। मान लीजिए किसी व्यक्ति को किसी कार्य के बदले पाँच हजार रुपये

प्रतिमाह मिलते हैं, उससे उसके घर का काम चलता है। यदि कोई उसे कहे कि यह कार्य त्याग दीजिए तो वह नहीं त्याग सकेगा क्योंकि उसी से उसके जीवन का निर्वाह हो रहा है। परन्तु यदि उस व्यक्ति को किसी अन्य जगह से दस हजार रुपये प्रतिमाह मिलने लगें तो वह पाँच हजार रुपये प्रतिमाह वाली नौकरी स्वतः छूट जाएगी।

इसी प्रकार व्यक्ति को जब तक बाहर से रस मिलता है तब तक उसे कोई कहे कि इसे छोड़ दो तो वह नहीं छोड़ेगा, पर जब उसे अन्दर से रस मिलने लगता है तो बाहर का रस छोड़ने के लिए उसे बहुत प्रयास नहीं करना पड़ता। जब सत्सङ्ग में किसी को रस मिलने लगता है तो टी.वी. का रस स्वतः छूट जाता है। अहंता तो आपकी मानी हुई वस्तु है, यह प्रतिदिन बदलती रहती है, प्रतिदिन जीव जड़ वस्तुओं में ही अहंता बदलता रहता है। इसलिए इस अहंता छोड़ना कोई कठिन नहीं है, परन्तु व्यक्ति को पहले से प्रयास तो करना ही पड़ता है।

व्यासजी कहते हैं -

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज॥

(महा.शान्तिपर्व-३२९.४०)

सम्पूर्ण जगत् को छोड़ दो और जिस अहंकार से छोड़ा है उसे भी छोड़ दो। पहले से अभ्यास होने पर उस अहंकार का कार्य समाप्त होने पर, वही गल जाता है। उसका आधार नहीं रहता है क्योंकि वह तो मान्यता पर टिका रहनेवाला होता है और मान्यतारूप जगत् समाप्त हुआ तो अहंकार भी समाप्त हो जाता है।

*****

जिज्ञासा :- ईश्वर का स्मरण प्रयास करने पर भी ज्यादा समय तक

नहीं टिकता, पर जगत् का स्मरण बिना प्रयास ही होता रहता है। इसमें क्या हेतु है?

समाधान :- जिस वस्तु का महत्व चित्त में बैठा रहता है उसका स्मरण बिना प्रयास ही होता रहता है। जगत् का स्मरण बिना प्रयास हो रहा है, इसका तात्पर्य यह हुआ कि जगत् का महत्व जितना अभी चित्त में बैठा हुआ है उतना ईश्वर का नहीं है। व्यक्ति ऊपर-ऊपर से कह देता है कि ईश्वर का महत्व बैठा है। परीक्षा करके देखे कि कितना महत्व बैठा है। यदि जीवन में भगवान् का महत्व सर्वोपरि है तो जगद्विषयक छोटी-छोटी घटनाओं से चिन्तित क्यों होता है?

यदि आपका लक्ष्य ईश्वर ही है तो आपको यदि घर से निकाल भी दिया जाए तो चिन्ता नहीं होनी चाहिए। उस समय क्या आप ऐसा सोच पाते हैं कि भगवान् की बड़ी कृपा हुई जो झंझट छूटा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आपकी निश्चिन्तता घर, परिवार, रुपये इत्यादि पर आधारित है। जिस दिन वह निश्चिन्तता ईश्वर पर आधारित हो जाएगी उस दिन ईश्वर का स्मरण बिना प्रयास ही होता रहेगा।

*****

जिज्ञासा :- यदि कोई सोचे कि हम इच्छारहित हो जाएँ तो यह भी एक प्रकार की इच्छा ही है। इस प्रकार अनवस्थादोष नहीं हो जाएगा?

समाधान :- नहीं, यहाँ अनवस्थादोष नहीं होता। इस बात को समझना पड़ता है कि इच्छा जब तक जगत् से सम्बन्धित है तब तक ही बन्धनकारी होती है और जब वह स्वरूप से सम्बन्धित हो जाती है तो जगत् से मुक्त करा देती है। अतः ऐसी इच्छा लाभकारी ही होती है। ऐसी इच्छा अन्तिम होती है, इसके पश्चात् कोई इच्छा नहीं होती। दोनों में यह अन्तर है। किसी का भाव जगत् से सम्बन्धित होता है तो उसे मोह कहते हैं। जैसे बच्चों

के प्रति माता-पिता का मोह होता है। वही भाव जब परमेश्वर से सम्बन्धित हो जाता है तो उसकी संज्ञा भक्ति हो जाती है।

इसलिए इच्छा से रहित होने की इच्छा करने में अनवस्थादोष आने की शंका नहीं करनी चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- जाग्रत में तो अभ्यास करने पर कभी-कभी समझ में आ जाता है कि यह स्वप्नवत है, पर स्वप्न में ऐसा नहीं आता कि यह स्वप्न है, ऐसा क्यों?

समाधान :- जाग्रत में और स्वप्न में यह अन्तर है कि जाग्रत में तो केवल स्वरूपविषयक अज्ञान रहता है, पर स्वप्न में स्वरूपविषयक अज्ञान के साथ-साथ निद्रादोष भी रहता है जिससे स्वप्न में अभ्यास नहीं हो सकता। इसलिए वहाँ पर उसको स्वप्न करके जानना कठिन होता है। हाँ, यदि आपका जाग्रत में अत्यधिक अभ्यास है तो स्वप्न में भी ऐसा अनुभव हो सकता है।

हर बार भले ही न हो, पर प्रायः होता रहता है। जैसा जाग्रत में विचार करता है वैसा वहाँ (स्वप्न में) भी होने लगता है। धीरे-धीरे, जैसे-जैसे जाग्रत का महत्व समाप्त हो जाता है, वैसे ही स्वप्न का भी महत्व घटने लगता है। भले ही स्वप्न आता रहे, पर उसका महत्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार का अनुभव मैंने कई बार किया है। एक बार मैं नर्मदा के तट पर बैठा था। उसी समय कुछ तन्द्रा जैसी आ गई तो मैंने अनुभव किया कि एक बाघ आया और उसने मेरी गर्दन पकड़कर अपनी पीठ पर लाद लिया एवं जंगल की ओर ले चला। उसी समय मैं विचार करने लगा कि तू मुझे जंगल में ले जाकर क्या कर सकता है! इस शरीर को ही खा सकता है, मेरा तो कुछ नहीं बिगाड़ सकता। मैं उससे जरा भी भयभीत नहीं हुआ। वह चला जा रहा था

और मैं ऐसा विचार करता रहा।

इस प्रकार चलते-चलते जंगल में जाकर वह एक महात्मा बन गया। तब हम दोनों का बहुत सत्सङ्ग भी हुआ। देखिए! जाग्रत का जो अभ्यास था वह स्वप्न में भी चलता रहा। जाग्रत में अभ्यास की तीव्रता का होना अनिवार्य है। नहीं तो स्वप्न को स्वप्नवत देखना नहीं होगा। आजकल न जाग्रत में विचार करने में मन लगता है और न ही स्वप्न में, तो व्यक्ति क्या समझेगा!

*****

जिज्ञासा :- आत्मसंस्थ मनवाले व्यक्ति को क्या करना चाहिए?

समाधान :- आत्मसंस्थ व्यक्ति कुछ करना ही क्यों चाहता है! आपका स्वरूप तो अक्रिय है और आप कुछ करना चाहते हैं, तो कैसे करोगे! जब कुछ करना है तो उपाधि को धारण करना पड़ेगा तभी क्रिया होगी अन्यथा क्रिया कैसे होगी। ऐसे में कुछ करने का प्रयास क्यों करते हो।

इसलिए यदि मन आत्मसंस्थ हो गया है तो कुछ भी करने का संकल्प छोड़ दो मात्र प्रकाशरूप बनकर देखते रहो। शरीर से बुद्धि पर्यन्त जो भी चेष्टाएँ हो रही हैं उनके साथ मिलो मत। बस! आत्मसंस्थ मनवाले के लिए यही सावधानी अपेक्षित है।

*****

जिज्ञासा :- सन्त लोग कहते हैं कि भजन के समय मन इधर-उधर भागे तो उसे रोकने का प्रयास न करके उसकी उपेक्षा कर दो। भजन तो मन से ही होता है, फिर उसकी उपेक्षा कैसे करें?

समाधान :- मन की अधिक चिन्ता मत करो। व्यक्ति को अपनी शक्ति को समझना चाहिए कि मन तो हमसे अलग है, हमारी उपाधि है, उसे ताकत हमसे ही मिलती है। मन कहे कि हाथ उठ जाए, पर तुम न उठाओ तो

नहीं उठेगा। जब तक आप मन का अनुमोदन नहीं करेंगे तब तक मन स्वतः कुछ नहीं कर सकता। मन हमारा मालिक नहीं है, वह तो हमारा नौकर अर्थात् करण है, उसके माध्यम से हम अपना काम करते हैं। मन हमसे शक्ति लेकर ही कार्य कर पाता है। इस प्रकार व्यक्ति को अपनी महिमा समझनी चाहिए और अपने को भजन में केन्द्रित कर देना चाहिए, तब मन को भी उधर आना ही पड़ेगा। इस बात को अपने अनुभव से समझना चाहिए, हम तो मन से विशिष्ट हैं, उसकी उपेक्षा कैसे करें, इस प्रकार के बुद्धिजाल में पड़ने से काम नहीं चलेगा।

*****

गुरु-तत्त्व

जिज्ञासा :- स्त्रियाँ अतिभावुक होती हैं, कई बार गुरु बनाने के चक्कर में गलत जगह फँस जाती हैं। क्या स्त्री को पति से अन्य किसी को गुरु बनाना चाहिए?

समाधान :- स्त्री को पति की आज्ञा के बिना किसी को गुरु नहीं बनाना चाहिए, उससे पूछकर ही बनाना उचित है। सबसे अच्छा तो यही है कि पति यदि किसी गुरु से दीक्षा लेता है तो उसके साथ पत्नी भी दीक्षा ले ले। तब पति का जैसा गुरु से व्यवहार है वैसा ही उसका भी रहेगा तो समस्या नहीं आएगी।

*****

जिज्ञासा :- जिनको मैं गुरु बनाना चाहता हूँ उन्होंने दीक्षा देना बन्द कर दिया है। फिर भी मैं उन्हें ही गुरु मानता हूँ, उनकी फोटो की पूजा करता हूँ। क्या वे मुझे स्वीकार करेंगे? क्या एकलव्य के समान मुझपर भी गुरुकृपा हो सकती है?

समाधान :- वस्तुतः गुरु शरीर नहीं है, वह तो एक तत्त्व है। यदि वह शरीर हो तो शरीर के मरने से गुरु भी मर जाएगा। फिर भी उस तत्त्व से सम्बन्ध बनाने के लिए शरीररूपी माध्यम की आवश्यकता होती है क्योंकि व्यवहार में बिना माध्यम के कोई काम नहीं होता। यदि एकलव्य के समान किसी की निष्ठा है तो वह फोटो के माध्यम से भी उस तत्त्व से सम्बन्धित हो सकता है। एकलव्य के मन में कोई विकल्प हुआ ही नहीं, मूर्ति को वह साक्षात् द्रोणाचार्य ही समझता था अन्यथा ऐसी धनुर्विद्या कैसे सीख पाता। यदि ऐसी विकल्परहितता किसी में है तो उस पर गुरुकृपा अवश्य होगी।

यदि कोई व्यक्ति बिना दीक्षा लिए किसी को गुरु मानता है तो उसे दो-

तीन बातों का ध्यान रखना ही होगा। उसका कोई भी व्यवहार ऐसा नहीं होना चाहिए जो गुरु की छवि में धब्बा लगाए। उसका जीवन गुरु के वचनों के अनुसार चलना चाहिए, वह गुरुमुख बने, मनमुख नहीं। जिनको वह गुरु मान रहा है उन्होंने अपने शिष्यों के लिए जो नियम बताए होंगे उन्हें जानकर उनका अपने जीवन में पालन करना पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं कर सकता तो गुरु से सम्बन्धित कैसे हो पाएगा। यदि उसके अन्दर भावना और गुरुआज्ञा के पालन की ताकत है तो वह गुरुतत्त्व से अवश्य ही सम्बन्धित हो जाएगा।

*****

जिज्ञासा :- जहाँ शास्त्रीय लक्षण दिखें उन्हें गुरु बनाना चाहिए अथवा जहाँ श्रद्धा अधिक हो उन्हें बनाना चाहिए?

समाधान :- सामान्य लोगों में भी प्रसिद्धि है - **गुरु करे जानके, पानी पीये छानके।** जानकर गुरु नहीं बनाओगे तो कल तुम झगड़ा कर सकते हो। लोग कन्या का विवाह करते हैं तो विचारकर करते हैं या ऐसे ही कर देते हैं। इसी प्रकार किसी के विषय में अच्छी प्रकार सोच-विचारकर ही उन्हें गुरु बनाना चाहिए क्योंकि यह जीवन भर का सम्बन्ध है। गुरु के लक्षण शास्त्र में कहे गए हैं, उन्हें ठीक से समझ लेना चाहिए। गुरु ऐसा होना चाहिए जो शिष्य की जिज्ञासा का समाधान कर सके।

शास्त्र जब कहता है कि श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ को ही गुरु बनाएँ, तो इसीलिए कहता है कि यदि गुरु का जीवन शास्त्रानुसार नहीं है तब तुमको उसके प्रति कभी-भी अश्रद्धा हो सकती है। हम तो कहेंगे कि यदि तुम्हारी श्रद्धा न जमे तो भगवान् को भी गुरु नहीं बनाना अन्यथा तुम्हें खतरा हो सकता है। बिना श्रद्धा के गुरु बनाने का कहीं विधान नहीं है। गुरु भी किसी को शिष्य बनाने के पहले जो परीक्षा करता है वह श्रद्धा की ही परीक्षा करता है। इसलिए जहाँ श्रद्धा जमे उसी को गुरु बनाना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्र और गुरुवाक्य में विरोध होने पर क्या करना चाहिए?

समाधान :- सामान्य नियम तो यही है कि शास्त्र की ही बात माननी चाहिए क्योंकि गुरु का गुरुत्व भी शास्त्र से ही है। पर यह विषय भी बहुत जटिल है, आपकी श्रद्धा पर आधारित है। गुरु के प्रति किसी में अत्यधिक श्रद्धा है तो उनके शास्त्रीय या अशास्त्रीय किसी भी व्यवहार में उसे दोष नहीं दिखाई देता। गुरु उसको साक्षात् महादेव ही दिखाई देते हैं। कोई उनके व्यवहार के विषय में कुछ कहे तब भी उसे संशय नहीं होता। वह यही समझता है कि उनका यह व्यवहार माया है जिसे हम नहीं समझ सकते। यदि किसी में इतनी अडिग श्रद्धा है तब तो उसके अन्दर जो गुरु है उसमें कोई दोष आएगा ही नहीं। यदि श्रद्धा को ठेस न लगे तो उसकी कोई हानि नहीं होगी क्योंकि गुरु एक तत्त्व है, वहाँ से उसे लाभ मिल ही जाएगा।

पर ऐसी श्रद्धा होना बड़ा मुश्किल है।यदि गुरु में दोष का बोध हो जाता है, उनका व्यवहार शास्त्रीय नहीं मालूम पड़ता तो आपको वहाँ से उपराम होना पड़ेगा। उपराम होकर भी उनमें गुरुभाव बनाए रखना पड़ेगा। इसका यही उपाय है कि आप सोचें कि सब बातों को हम समझ नहीं सकते हैं। हमारा तो यही कहना है कि व्यवहार शास्त्र के अनुसार ही करना चाहिए। श्रद्धा न बने तो उपराम होना ही उचित है।

*****

जिज्ञासा :- आचार्य की पहचान क्या है?

समाधान :- आचार्यों के लिए शास्त्र में कहा गया है -

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य इष्यते।।

जो शास्त्र के अर्थों का चयन करता है। शास्त्र के दो ही अर्थ हैं

- धर्म और ब्रह्म। इन दोनों का जो विचार करके निश्चय कर लेता है, साथ ही अन्य लोगों को भी शास्त्रार्थ में अर्थात् धर्ममार्ग में प्रवृत्त करता है - **आचारे स्थापयति अपि।**

कोई शंका करे कि वह अन्य लोगों को ही धर्म में लगाता है, स्वयं जीवन में उतारता है या नहीं? इसका उत्तर दिया - **स्वयम् आचरते यस्मात्,** जो पहले स्वयं धर्म का आचरण करता है, रहस्य सहित शास्त्र के अर्थ को समझ कर पूर्ण रूप से अपने जीवन में उतारता है, **उसे आचार्य कहा जाता है।** ऐसे आचार्य को ही श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ कहा जाता है। धर्म के रहस्य को और परमात्मा के तत्त्व को जिसने अनुभूत कर लिया है और दूसरों को भी शास्त्रीय दृष्टि से समझा सकने में समर्थ होता है, **वही आचार्य है।**

*****

जिज्ञासा :- माण्डूक्यकारिका में कहा गया है–

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति।
तं चावति स भूत्वाऽसौ तद्ग्रहः समुपैति तम्।।
(कारिका - २.२९)

आचार्य जो भाव या तत्त्व शिष्य को समझा देता है वह उसी भाव से भावित हो जाता है और वही भाव उसकी रक्षा करता है। जो अवैदिक या द्वैतवादी सम्प्रदाय हैं उनके आचार्यों द्वारा समझाया गया भाव शिष्य की रक्षा कैसे करेगा?

समाधान :- एक व्यवस्था समझनी चाहिए कि व्यवहार में जितने भी बल्ब, पंखा आदि यन्त्र काम करते हुए दिखाई देते हैं, उन सबको शक्ति उस विद्युत से मिलती है जो दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार किसी भी निर्णय या भाव के विषय में आपके मन का संकल्प पक्का हो जाए तो चैतन्य से आपको शक्ति मिल जाएगी। इसलिए चाहे मुस्लिम हो या बौद्ध किसी भी

धर्म का गुरु अपने शिष्य के अन्दर जो ग्रह बना देता है और उसपर शिष्य का पक्का विश्वास हो जाता है तो चैतन्य से उसी रूप में उसे शक्ति मिल जाती है। ग्रह का तात्पर्य है कि उसका चित्त उस भाव को यही ठीक है इस प्रकार से पकड़ लेता है, उसमें दृढ़ अभिनिवेश कर लेता है।

यदि कहो कि उनके द्वारा ग्रहण किया गया भाव अवैदिक है, सम्यक् ज्ञान नहीं है, तब उन्हें शक्ति कैसे मिलेगी! तो यह बात ठीक नहीं क्योंकि विद्युत ऐसा नहीं कहती कि मैं बल्ब को शक्ति दूँगी और सिर काटनेवाली मशीन को नहीं। बहुत-से लोग शुद्धरूप से मन्त्र का जप करते हैं पर उनका मन्त्र सिद्ध नहीं होता। दूसरी ओर, कुछ लोग ऐसे भी हैं जो शुद्ध मन्त्र जानते नहीं, गुरुजी ने कह दिया - चाहे सीधा हो या टेढ़ा, उसी में अभिनिवेश कर लेते हैं। वे जप करके सिद्ध हो जाते हैं। चेतनतत्त्व एक है और साधना में सारी शक्ति उसी से मिलती है। साधक के मन में जैसा बिठा दिया जाए और वह पक्का विश्वास कर ले, तो उसी आधार पर उसकी रक्षा तत्त्व से हो जाती है। उस साधन में अभिनिवेश होने से जगत् में होनेवाली उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रुक जाती है, यही उसकी रक्षा है।

यह बात जरूर है कि ऐसे लोगों को शक्ति या सिद्धि मिल सकती है, परन्तु ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान के लिए तो विवेक, वैराग्य, शम-दम, वेदान्त-श्रवणादि की प्रक्रिया है। वास्तविक रक्षा (संसार-बन्धन से मुक्ति) तो औपनिषद ज्ञान से ही होगी। अन्य जो सम्प्रदाय हैं उनके द्वारा अपनाए गए धर्म व्यवहार में रक्षा कर सकते हैं, परन्तु मुक्तिरूपी रक्षा उनसे सम्भव नहीं।

*****

जिज्ञासा :- सत्सङ्ग में कई बार आपसे सुनते हैं कि गुरु शरीर नहीं, एक तत्त्व हैं। जबकि शास्त्र तो कहता है -

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् । (गुरुगीता-७४)

तब क्या गुरु के शरीर का कोई महत्व नहीं है?

समाधान :- जो गुरु उपदेश करता है कि तुम शरीर नहीं चेतन आत्मा हो, वह अपना स्वरूप क्या समझता है? गुरु जिसे अपना स्वरूप समझता है वही गुरुतत्त्व है और वह चेतन ही है। इसी दृष्टि से हमने कहा था कि गुरु एक तत्त्व है और शरीर माध्यम। जैसे सृष्टि के लिए माया एक माध्यम है, तत्त्व तो ब्रह्म ही है। परन्तु माध्यम की उपेक्षा करके व्यक्ति तत्त्व तक नहीं पहुँच सकता, इसलिए माध्यम का महत्व कम नहीं है। एकलव्य को विद्या तो गुरुतत्त्व से मिली, परन्तु उसने जो द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाई थी, उसका बड़ा महत्व उसके अन्दर था, उसे वह चेतन ही समझता था। उस मूर्ति की उपेक्षा करके नहीं, बल्कि उसकी पूजा करके ही वह गुरुतत्त्व से सम्बन्धित हुआ था।

इसलिए व्यवहार में तो शरीर ही गुरु है। वहाँ उसकी उपेक्षा करने का कोई प्रश्न ही नहीं है। यदि शिष्य किञ्चित् भी उपेक्षा करेगा तो अपने मार्ग से भटक जाएगा और गुरु से कोई शक्ति गृहीत नहीं कर पाएगा। गुरु एक तत्त्व है ऐसा कहने में **ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः...** का कोई खण्डन नहीं है। व्यवहार में आप ध्यान करेंगे तो गुरु की जैसी मूर्ति है, उन्हीं का ध्यान करेंगे। पूजा भी करेंगे तो चैतन्याभास से विशिष्ट जो शरीर है उसी की पूजा होगी न कि तत्त्व की। परन्तु जब आपको ज्ञान हो जाएगा तब समझ अलग हो जाएगी - **ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने...** आप गुरुतत्त्व से अभिन्न हो जाएँगे।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्र में गुरु तत्त्व को सबसे ऊपर बताया है — **नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ...(शिवमहिम्नः-३८)।** इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान :- आपके सामने प्रत्यक्ष परमात्मा तो गुरु ही है, उसके बिना आप परमात्मा को समझ भी नहीं सकते। अपनी बुद्धि से कोई भी परमात्मा को नहीं समझ सकता। परमात्मा और जीव एक हैं, यह ज्ञान बिना गुरु के सम्भव ही नहीं है। जो आपको परमात्मा का दर्शन करा दे और वही परमात्मा आपका आत्मा है ऐसा बोध करा दे उस गुरु से बड़ा कोई तत्त्व नहीं दीखता।

*****

जिज्ञासा :- आजकल समाज में ढोंग बहुत बढ़ गया है, इसलिए ज्ञानी-अज्ञानी का पता लगाना कठिन हो गया है। कृपया बताइए कि इस परिस्थिति में सही गुरु का चयन कैसे करें?

समाधान :- साधक के सामने यह समस्या बड़ी जटिल है क्योंकि गुरु को पहचानने का कोई निर्धारित लक्षण नहीं है। पर साधक को इसमें घबराने की आवश्यकता नहीं है, यदि उसकी लगन सच्ची है तो परमात्मा अवश्य ही उसको गुरु के लिए कोई मार्ग बताएगा। वैसे तो ज्ञानी महापुरुषों को पहचानना सहज नहीं है, तो भी गीता, योगवाशिष्ठ इत्यादि ग्रन्थों में ज्ञानी के जो लक्षण बताए हैं उनके अनुसार कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। पर गुरु-चयन करने के लिए यह ठीक-ठीक नियम नहीं कह सकते। इसलिए साधक को परमात्मा पर विश्वास रखना चाहिए कि वे जो करेंगे वह हमारे हित में ही होगा।

*****

जिज्ञासा :- क्या गुरुदेव के सामने खड़ाऊँ पहन सकते हैं?

समाधान :- गुरुदेव के सामने खड़ाऊँ पहनकर नहीं चलना चाहिए।

*

* *

ईश्वर-तत्त्व

जिज्ञासा :- भगवन्! ईश्वर अगर सर्व है तो बीच में जीव, माया इत्यादि कहाँ से आ गये? इनके रहते क्या ईश्वर सर्व हो सकता है?

समाधान :- दीपावली पर्व पर शक्कर के हाथी, घोड़ा, खच्चर आदि तमाम खिलौने बनाते हैं, उनसे शक्कर का क्या बिगड़ रहा है? अन्तर इतना ही पड़ता है कि यदि कोई बच्चा दुकानदार से हाथी माँगे और वह खच्चर दे तो बच्चा नहीं लेगा क्योंकि उसकी दृष्टि आकृति में है, शक्कर में नहीं। पर दुकानदार की दृष्टि में तो चाहे एक किलो हाथी लो, चाहे एक किलो खच्चर सब शक्कर ही है।

आकृतियों के या व्यवहार के भेद से शक्कर की सर्वरूपता में कोई अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार अनन्त सृष्टियाँ होने पर भी, जीव, माया सबके रहते हुए भी ईश्वर की सर्वरूपता में कोई फर्क नहीं पड़ता है क्योंकि वास्तव में उससे भिन्न कुछ है ही नहीं।

*****

जिज्ञासा :- परमात्मा सर्वत्र विद्यमान रहकर जीवों से सब कुछ करवाता है, इसको कैसे समझें?

समाधान :- सर्वत्र रहकर कोई नियमन करे, इसमें हमें तो कोई विरोध नहीं दीखता। तार, बल्ब, पंखा सभी में विद्युत अनुस्यूत है, उसी से सब काम हो रहा है। विद्युत से ही पंखा चल रहा है, बल्ब प्रकाश दे रहा है, मशीन पानी भर रही है, टेप-रेकार्डर बोल रहा है, तो विद्युत का इनमें रहकर नियमन करने में क्या विरोध है! यहाँ विद्युत का नियमन डंडे से नहीं, बल्कि सत्ता मात्र से है, उसके बिना कुछ हो ही नहीं सकता।

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में अन्तर्यामी का नियमन बताया गया

है। वहाँ कहा -

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं वह अन्तर्यामी पृथ्वी के अन्दर रहता है, पृथ्वी उसका शरीर है, परन्तु पृथ्वी का अभिमानी देवता उसे नहीं जानता। पृथ्वी में अभिमान करनेवाला चेतन उसका अभिमानी देवता कहलाता है। अन्तर्यामी भी पृथ्वी में है, परन्तु उसमें अभिमान नहीं करता।

यः पृथिवीमन्तरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः (बृ. उप.- ३.७.३) वह अन्तर्यामी पृथ्वी का भीतर से नियमन करता है और उसका नियमन सत्ता मात्र से है। यह अन्तर्यामी केवल पृथ्वी में ही नहीं, अपितु सब शरीरों में व्याप्त है, पर उनमें अभिमान नहीं करता। शरीर में जो जीव है, वह उसका अभिमानी होता है। शरीर में सूक्ष्म शरीर को लेकर जीव जितना भी कार्य कर रहा है, सबका नियमन सर्वत्र व्याप्त सामान्य चेतन से ही है।

परन्तु उसका नियमन कोई डण्डा लेकर नहीं है, उसके अस्तित्व मात्र से है, सबको सत्ता स्फूर्ति देना ही उसका नियमन है। उसके बिना न कोई क्रिया हो सकती है और न कोई ज्ञान। सर्वत्र रहकर करवाना इस प्रकार से युक्तियुक्त ही है।

*****

जिज्ञासा :- गीता में कहा गया है -

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। (९.२९)

जब भगवान् भक्तों के प्रति विशेष प्रेम रखते हैं तो फिर उनकी समता कैसे रहेगी?

समाधान :- हमेशा शब्दों का अर्थ प्रकरण के अनुसार लगाया जाता है। जैसे सैन्धव शब्द का एक अर्थ है - नमक और एक अर्थ है - घोड़ा। यदि भोजन के समय कोई सैन्धव माँगे और तुम घोड़ा ले आओ तो क्या उचित

होगा? इसी प्रकार यात्रा के लिए जाते समय कोई सैन्धव मँगाए और तुम नमक लाओ तो क्या होगा! दूसरी बात, जब तक आपको दो विरोधी बातें एक साथ समझ में नहीं आएँगी तब तक आप वेदान्त को नहीं समझ सकते। जैसे, आपका स्वरूप अकर्ता है, परन्तु सारी क्रियाएँ आपसे ही हो रही हैं। आपका शुद्ध स्वरूप जब कार्यकरण-संघात से मिलता है तभी आप कर्ता बनते हैं।

गीता में भगवान् तीन प्रकार से **मैं** शब्द का प्रयोग करते हैं, इसे ठीक से समझना चाहिए। एक तो अधिष्ठान ब्रह्मरूप से प्रयोग करते हैं जिसका किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है, दूसरे ईश्वररूप के लिए **मैं** का प्रयोग करते हैं और तीसरे अपने चतुर्भुज स्वरूप के लिए भी **मैं** शब्द का प्रयोग करते हैं। **समोऽहं सर्वभूतेषु ...** इस श्लोक की प्रथम पंक्ति में तो **अहं** शब्द का अर्थ सभी प्राणियों में अधिष्ठान रूप से अनुस्यूत ब्रह्मतत्त्व ही है। अधिष्ठान का न किसी से राग होता है और न किसी से द्वेष। परदे पर चाहे देवता दीख रहा हो अथवा राक्षस, परदे का दोनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपने इस जगत् के अधिष्ठान रूप से भगवान् ने कह दिया कि उनके लिए कोई द्वेष्य या प्रिय नहीं है।

जहाँ प्रकरण भक्ति का आता है वहाँ तो जो अनन्य भाव से ईश्वर का भजन करता है उसके लिए ईश्वर ने प्रतिज्ञा की है -

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।(९.२२)
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।(१२-६,७)

ईश्वर रूप से अपने अनन्य भक्त की रक्षा वह क्यों नहीं करेगा! परन्तु ईश्वररूप में रक्षा करते हुए भी अपने वास्तविक रूप से अकर्ता और असङ्ग ही रहता है। गीता के अन्त में भी भगवान् ने कहा है -

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।(१८-६८,६९)

यहाँ भी भगवान् ने अपने भक्तों के प्रति गीता के कथन करनेवाले को सबसे प्रिय कह दिया। इसी प्रकार **समोऽहं ...** इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में भगवान् ने अपने भक्त को प्रिय बता दिया है -

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।

यहाँ समझना चाहिए कि ईश्वर रूप से जो भगवान् का भजन करेगा वह उनका प्रिय होगा ही, पर इसमें भी भगवान् का पक्षपात नहीं है यह तो भक्ति का पक्षपात है। इसलिए ईश्वर की समता और भक्त के प्रति प्रेम इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- भगवान् की कृपा को कैसे समझा जाए?

समाधान :- भगवान् की कृपा का स्वरूप कई बार बड़ा विलक्षण होता है, कोई भावुक भक्त ही इसे समझ सकता है। कानपुर के एक सेठजी थे जो कृष्ण के बड़े भक्त थे। उम्र बढ़ने पर उन्होंने अपना व्यापार लड़कों को सम्भलवा दिया था और स्वयं वृन्दावन में अपनी कोठी में रहते थे। लड़के समय-समय पर आते, उनसे मिलकर सारा प्रबन्ध करके चले जाते थे, कोई समस्या नहीं थी। सेठजी रोज बिहारीजी के मन्दिर में जाकर दर्शन करते और वहाँ बैठकर बहुत देर तक भजन करते थे। यह मुसलमानों के

शासनकाल की बात है।

एक दिन बिहारीजी ने अपनी लीला दिखाई। सेठजी जब मन्दिर जा रहे थे तो रास्ते में देखा कि एक दुकानदार बहुत बड़ा कमल का फूल लेकर बेचने बैठा है। ऐसा फूल उन्होंने जीवन में पहले कभी नहीं देखा था। उनके मन में आया कि यह फूल तो बिहारीजी को चढ़ना चाहिए, उनका प्रेम बिहारीजी से था, इसलिए वही याद आए। दुकानदार से पूछने पर उसने एक रुपया दाम बताया। इतने में वहाँ के नवाब का लड़का जो शराब पीकर वेश्या के घर जा रहा था, दुकान पर पहुँच गया। फूल देखकर उसने सोचा कि इसे वेश्या को देंगे तो वह प्रसन्न होगी। दुकानदार ने कहा, 'यह फूल तो सेठजी ने खरीद लिया है।' उसने कहा, 'मैं दस रुपये दूँगा, फूल मुझे दो।'

सेठजी ने सोचा - यह क्या लीला है, हमने तो फूल बिहारीजी को चढ़ाने का संकल्प कर लिया है। उन्होंने कहा, 'मैं पचास रुपये दूँगा, पर फूल बिहारीजी को चढ़ेगा।' लड़के ने कहा, 'मैं सौ रुपये दूँगा, पर फूल मैं ले जाऊँगा।' सेठजी ने कहा, 'मैं पाँच सौ दूँगा, फूल बिहारीजी को चढ़ेगा।' उसने कहा, 'मैं हजार दूँगा, पर फूल मैं ही ले जाऊँगा।' सेठजी बोले, 'मैं पाँच हजार दूँगा, पर फूल बिहारीजी को ही चढ़ेगा।' लड़का बोला, 'मैं दस हजार दूँगा।' सेठजी ने कह दिया, 'मैं पचास हजार दूँगा, पर फूल तो अब बिहारीजी को ही चढ़ेगा।' अब नवाब के लड़के का दिमाग ठण्डा हो गया, सारा नशा उतर गया। उस समय का रुपया कोई आज का रुपया नहीं था। उसने सोचा पचास हजार में तो मैं कितनी ही वेश्या खरीद सकता हूँ, वह चुप होकर खिसक लिया।

यह तमाशा देखकर काफी भीड़ इकट्ठी हो गई थी। सेठजी ने कहा, 'मैं अपनी कोठी पचास हजार रुपये में नीलाम करता हूँ। या तो कोई एक व्यक्ति खरीद ले या कुछ लोग मिलकर खरीद लें। आज मेरे ऊपर बिहारीजी की कृपा हो गई अन्यथा यह कोठी छूटनेवाली नहीं थी। मैंने परिवार को,

लड़के-बच्चों को छोड़ दिया था पर यह कोठी नहीं छूट रही थी। आज बिहारीजी की कृपा हो गई। अब मैं वृन्दावन की गलियों में भिक्षा माँगकर खाऊँगा और कहीं भी रह जाऊँगा।'

ऐसी कृपा सबको कैसे समझ में आ सकती है, कोई बिरला ही इसे समझ सकता है। **भगवान् की कृपा हो तभी उसकी कृपा समझ में आ सकती है।** जिससे तुम्हें बहुत मोह है वही खत्म हो जाए तो तुम्हें कृपा कहाँ दीखती है! यह नहीं सोचते कि अपना मन बार-बार वहाँ जाता था, भगवान् ने अच्छा किया कि छुड़ा दिया अन्यथा जीवन भर नहीं छूटता। ऐसा विचार कहाँ आता है! इसलिए हम तो यही कहेंगे कि जिसे भगवान् से सच्चा प्रेम है वही उनकी कृपा को समझ सकता है।

*****

जिज्ञासा :- कण-कण में भगवान् हैं अथवा प्रत्येक कण भगवान् है, इन दोनों में से कौन-सी बात ठीक है?

समाधान :- अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों बातें ठीक हैं। विचार करो, कपड़े में सूत है अथवा सूत ही कपड़ा है। यदि कहो कपड़े में सूत है तो सूत का नाम ही तो कपड़ा है। तब क्या कपड़ा पहले बन जाएगा, फिर सूत उसमें घुसेगा, यह तो सम्भव नहीं है। इसी प्रकार यहाँ समझ लो। ये कण-कण पहले बन गए, फिर बाद में भगवान् इनमें घुसा, ऐसी बात नहीं है। एक दृष्टि से कहो तो कण-कण में भगवान् हैं जैसे कपड़े में सूत है। दूसरी दृष्टि से कहो तो जैसे कपड़ा सूत ही है, इसी प्रकार कण-कण भगवान् ही है। कहने मात्र का भेद है, समझ में कोई भेद नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- वेदान्त और आगम के ग्रन्थों में परमात्मा अथवा शिव को सर्वशक्तिमान् कहा गया है। क्या उनकी शक्ति की सत्ता उनसे पृथक् रहती है?

समाधान :- हम लोगों को सृष्टि प्रत्यक्ष दीख रही है, इसे मिथ्या कहने पर भी इसकी उत्पत्ति का कुछ समाधान तो ढूँढना ही पड़ता है क्योंकि ब्रह्म या शिव तो निर्विकार है। इसलिए उस तत्त्व में शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है। शक्ति हमेशा कार्यानुमेया होती है, इसलिए परमशिव अवस्था में शक्ति को नहीं कह सकते, परन्तु सृष्टि-दशा में उसे मानना पड़ता है। उसी परमशिव तत्त्व को आप शक्तिदृष्टि से कहें तो शिवा कह दीजिए और शक्तिमान् दृष्टि से कहें तो शिव कह दीजिए, कोई अन्तर नहीं आता। शक्तिमान् से अलग करके शक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, पर शिवरूप से शक्ति सत्य है।

यहीं विचार कीजिए, आपके अन्दर जो वक्तृत्व शक्ति है वह सत्य है अथवा मिथ्या। हमें यहीं इस बात को समझना चाहिए, प्रत्येक विचार का अनुभव में पर्यवसान करना चाहिए, केवल तर्क में नहीं। आपके अन्दर वक्तृत्व शक्ति है, पर जब तक आप बोलेंगे नहीं तब तक उस शक्ति को कोई नहीं जान सकता। जब आप चुप हैं तब भी वह शक्ति है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति नहीं है। आप बोलेंगे तो वह शक्ति उद्भूत मालूम होगी, आप चुप हो जाएँगे तो शक्ति तिरोहित मालूम पड़ेगी। वह शक्ति आपसे भिन्न है या अभिन्न स्वयं विचार कर लीजिए। उसको आपसे भिन्न नहीं कह सकते। अर्थात वह आपसे अभिन्न ही है। इसलिए कहना पड़ता है कि शिवरूप से वह शक्ति सत्य है।

जब हम अद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्विशेष ब्रह्म की बात करते हैं,

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ...

(कठ.उप.-१.३.१५)

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्... (मुण्ड.उप.-१.१.६)

आदि श्रुतियों का विचार करते हैं तो वहाँ सृष्टि की चर्चा नहीं है। वहाँ तो सम्पूर्ण प्रपञ्च के निषेध के द्वारा निर्विशेष तत्त्व को कहा जा रहा है। उस

तत्त्व में शक्ति मानने पर वह निर्विशेष नहीं रहेगा। इसलिए वहाँ शक्ति की कल्पना नहीं की जाती।

*****

जिज्ञासा :- शिवजी को मृगधर क्यों कहते हैं?

समाधान :- शिवजी की कई मूर्तियों में देखा जाता है कि उन्होंने एक हाथ में मृग को पकड़ रखा है, इसलिए उनका नाम **मृगधर** पड़ गया। मृग एक प्रतीक है। शब्दकोषों में मृग शब्द यज्ञ और मन अर्थों में भी आता है। मन बहुत चञ्चल है, दुनिया भर में भागता रहता है, पर शिवजी ने उसे हाथ में धारण कर रखा है, अर्थात् वश में कर रखा है। यज्ञ-यागादि को भी उन्होंने लोकमङ्गल के लिए धारण किया है। जितने भी यज्ञ हैं उनके स्वामी शिवजी ही हैं, सभी यज्ञों से उनका ही पूजन होता है और यज्ञों का फल भी वही देते हैं।

अथवा मन-उपाधिवाला जीव ही मृग है, उस जीवरूपी मृग को शिव अपने वश में रखते हैं। इसीलिए उनका नाम **पशुपति** है। मृगरूप जीव ही पशु है, शिव उसे हाथ में लिए रहते हैं, वश में रखते हैं, जब वे कृपा करें तो छोड़ देंगे, मुक्त कर देंगे।

*****

जिज्ञासा :- शिवजी को पञ्चवक्त्र कहा जाता है, क्या यह वेदसम्मत है?

समाधान :- वेदों में शिवजी के बहुत-से नामरूप बताए गए हैं। सारा वेद तो हमने देखा नहीं, इसलिए वेदों में पञ्चवक्त्र शब्द आया या नहीं, कह नहीं सकते। परन्तु आगम शास्त्र और पुराणों में शिवजी के लिए पञ्चवक्त्र शब्द का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। वहाँ इन पाँच मुखों के अलग-अलग नाम, वर्ण, ध्यानश्लोक आदि भी बताए गए हैं। आगम और पुराण वेद की ही व्याख्या है, उसके अनुरूप ही हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि शिवजी का पञ्चवक्त्र स्वरूप वेदसम्मत ही है।

अथवा सद्योजात आदि जो शिवजी की पाँच मूर्तियाँ हैं, उन्हीं को उनके पाँच मुख माना जाता है। सद्योजात आदि रूपों का वर्णन और उनके मन्त्र वैदिक संहिताओं में मिलते हैं। इसलिए भी पञ्चवक्त्र स्वरूप वेदविरुद्ध है, ऐसा हम नहीं कह सकते।

*****

जिज्ञासा :- ईश्वर सगुण-निराकार को कहते हैं, जब वह सगुण है तो अनाम-अरूप कैसे होगा?

समाधान :- अरे भाई! नाम-रूप ही तो सृष्टि है। आप इस सृष्टि में बैठकर ईश्वर या ब्रह्म शब्द कहते हैं, परन्तु सृष्टि के पहले कोई भी नाम या रूप कैसे हो सकता है! सृष्टि का कर्ता तो ईश्वर ही है, इसलिए वह सृष्टि के पहले से ही मौजूद है। जब सृष्टि के बाद ही नाम-रूप अभिव्यक्त होते हैं तो ईश्वर का अनाम-अरूप होना स्वाभाविक है। ईश्वर अव्याकृतात्मा है, अव्यक्त है इसलिए उसके नाम-रूप सम्भव नहीं।

सृष्टि होने के बाद समझने के लिए उसका नाम ईश्वर, शिव, विष्णु कुछ भी रख लो।

कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारं... अथवा सशंखचक्रं सकिरीटकुण्डलं ...

इस प्रकार कुछ रूप भी बता दिया जाता है। इन नाम-रूपों को लेकर साधक साधना करेगा, परन्तु साधना के अन्त में पहुँचेगा अनाम-अरूप में ही। सम्पूर्ण कार्य नाम-रूपवाला है, इसका आधार लिए बिना साधना में आगे बढ़ा नहीं जा सकता। इसका आधार लेकर हम कारण में पहुँचेंगे जो अनाम-अरूप है।

*****

जिज्ञासा :- भगवान् को कृपानिधान क्यों कहा जाता है?

समाधान :- जीव का सबसे बड़ा शत्रु उसका अहंकार है। भगवान्

की सबसे बड़ी कृपा यही है कि वह जीव के अहंकार को खा लेता है। इसीलिए वह महादयालु है, कृपानिधान है। जो आपके सीमित-अहंतारूपी सबसे बड़े शत्रु को मार दे उससे बड़ा कृपालु और कौन होगा!

*****

जिज्ञासा :- शिवमहिम्नःस्तोत्र में कहा है -

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचराः ...(२४)

क्या महादेव श्मशानों में क्रीड़ा करते हैं? उनके सङ्गी-साथी पिशाच हैं?

समाधान :- यहाँ पर पुष्पदन्ताचार्य ने जो कहा है वह इस शरीर को ही श्मशान मानकर कहा है। हमारे शरीर में करोड़ों जीवाणु प्रति मिनिट मरते हैं और दफन भी होते हैं। यही बात आज का विज्ञान भी कहता है। जहाँ मुर्दा दफनाया जाता है वह तो श्मशान ही हुआ। लोक में भी देखा जाता है कि श्मशान में मुर्देगाड़े जाते हैं। इसलिए इस शरीर को श्मशान कहा गया है। चेतन महादेव आत्मारूप से इस शरीर में क्रीड़ा कर रहे हैं, इसलिए कहा - **श्मशानेष्वाक्रीडा ...।** श्मशान में क्रीड़ा करते समय उनके साथी कौन होते हैं? **पिशाचाः सहचराः ...** ये इन्द्रियाँ पिशाच हैं, जिनको साथ में लेकर आत्मारूप चेतन महादेव शरीररूपी श्मशान में क्रीड़ा कर रहे हैं।

इन्द्रियों को पिशाच क्यों कहा? ये इन्द्रियाँ जीव को हमेशा काम में फँसाए रखती हैं। ये दुनिया भर को पकड़कर मार रही हैं। जैसे पिशाच जीव को पकड़कर उसका खून चूसता है, वैसे ही ये भी जीवों का खून चूस रही हैं। इन्हें ढूँढो तो कहीं मिलती नहीं है, इसलिए इन्द्रियों को पिशाच कहा गया है। इसी श्लोक में आगे कहा - **चिताभस्मालेपः ...** महादेव चिता की भस्म का लेप करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यह शरीर आगे चलकर चिता पर भस्म होना है तो अभी-भी भस्मरूप ही समझें, अर्थात् निःसार समझें। ऐसे भस्मरूप शरीर में रहते हैं मानो भस्म धारण करते हैं। फिर कहा **नृकरोटीपरिकरः...** मनुष्यों के कपालों की माला पहने हुए है। यहाँ कपाल

का तात्पर्य अहंकार से है अर्थात् सम्पूर्ण जीवों के अहंकार को धारण किए हुए है। फिर आगे कहा - **अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलम् ...।**

सम्पूर्ण आचरण अमङ्गल दीखते हुए भी तुम्हारा नाम-स्मरण सभी प्रकार के मङ्गल को प्रदान करनेवाला है। जब तक इस शरीर का चेतन से सम्बन्ध रहता है तब तक लोग इसकी देवता के समान पूजा करते हैं और जब चेतन से सम्बन्धविच्छेद हुआ कि तुरन्त इसे जला देते हैं। बच्चों को देखने तक नहीं देते हैं। ये सब अमङ्गलरूप हैं और आप इनके साथ रहते हैं। आप के ही कारण ये भी मङ्गलरूप हो जाते हैं अर्थात् आत्मारूप चेतन महादेव के कारण ही यह शरीर मङ्गलरूप दिखाई देता है।

*****

जिज्ञासा :- कोई साधक ईश्वर-कृपा का अनुभव करके कैसे समझे कि यह कृपा भ्रम नहीं है?

समाधान :- जब साधक पर ईश्वर की कृपा होती है तो उसे यह शंका नहीं हो सकती है कि यह भ्रम है। ईश्वर-कृपा में एक शक्ति होती है कि वह साधक के अन्दर से ईश्वरकृपा-विषयक सन्देह को समाप्त कर देती है।

*****

जिज्ञासा :- जगत्-निर्माण में हेतु परमात्मा स्वयं है या उसकी इच्छा?

समाधान :- जगत्-निर्माण किसी दूसरे की इच्छा से नहीं, परमात्मा की इच्छा से ही होता है, पर उस इच्छा को करनेवाला तो परमात्मा ही है। अतः मूलरूप से जगत्-निर्माण में हेतु परमात्मा ही है।

*****

जिज्ञासा :- परमात्मा को किस नाम से पुकारने पर वह जल्दी सुनता है?

समाधान :- परमात्मा अरूप-अनाम है, जिसका कोई नाम नहीं, रूप नहीं उसे किसी भी नाम से पुकारो, क्या अन्तर पड़ता है! जब सभी नाम उसी के हैं तो छोटा-बड़ा कैसे होगा! वह अनाम-अरूप होते हुए भी कण-कण में व्याप्त है। इसलिए अपने यहाँ मिट्टी, पत्थर, वृक्ष इत्यादि में भी उसका पूजन कर लेते हैं। अतः श्रेष्ठता, न्यूनता नाम में नहीं है, व्यक्ति के भाव में है। यदि पुकारनेवाले का भाव श्रेष्ठ है तो वह किसी भी नाम से पुकारने पर सुनता है।

*****

जिज्ञासा :- ईश्वर संसार में होनेवाली प्रत्येक घटना को अलग-अलग समय में जानता है अथवा एक ही समय में जान सकता है?

समाधान :- संसार में होनेवाली प्रत्येक घटना को ईश्वर एक ही साथ जानता है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए। हम लोगों को यहाँ संशय इसीलिए हो जाता है कि हम परिच्छिन्न अन्तःकरण में स्थित होकर ऐसा विचार करते हैं। समष्टि अन्तःकरण को धारण करनेवाले ईश्वर के निश्चय और ज्ञान के विषय में जीव ठीक निर्णय नहीं कर सकता।

*****

सन्त तथा सत्सङ्ग

जिज्ञासा :- कुछ सन्त लोग भी आजकल लोगों को परिवार-नियोजन के लिए प्रेरणा देते हैं। क्या यह उचित है?

समाधान :- सन्त यदि परिवार-नियोजन के लिए बताएगा तो गृहस्थ को यही कहेगा कि तुम संयमपूर्वक शास्त्रविधि से रहो तो अपने आप ही परिवार-नियोजन हो जाएगा। गृहस्थ यदि चाहता है कि हमारी और सन्तान न हो तो पति-पत्नी दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करें, यम-नियम इत्यादि का अनुष्ठान करें, भजन में मन लगाएँ तो उनका यह लोक भी बनेगा और परमार्थ भी। साथ ही परिवार भी सीमित रहेगा।

आजकल परिवार-नियोजन के लिए जो वैज्ञानिक पद्धति चल रही है वह शास्त्रीय नहीं है। अशास्त्रीय पद्धति किसी के कहने मात्र से नहीं मानी जा सकती। किसी विषय में क्या करना चाहिए, क्या नहीं इसमें शास्त्र ही प्रमाण है। तुम्हारा मन या समाज की परिस्थिति प्रमाण नहीं है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। (गीता - १६.२४)

इसलिए इन विषयों में शास्त्र के अनुसार व्यवहार करना ही उचित है।

*****

जिज्ञासा :- साधु का व्यवहार कैसा होना चाहिए?

समाधान :- साधु को किसी भी परिस्थिति में अपना मन नहीं बिगाड़ना चाहिए। कोई कुछ भी कह दे, कोई कैसा भी व्यवहार कर दे, बीमारी आ जाए, बड़ी-से-बड़ी समस्या आ जाए, फिर भी अपने मन की स्थिति को न बिगड़ने दे, तो वह व्यक्ति साधु हो जाएगा। यदि आपकी स्थिति नहीं बिगड़ी तो बाकी सब फेल हो जाएँगे और आप पास। व्यक्ति की सबसे बड़ी कमजोरी यही होती है कि प्रतिकूल परिस्थिति में उसका मन बिगड़ जाता है। भले ही प्रतिकार न करे, परन्तु मन में गलत भाव आ जाता है। कोई

तुम्हारे प्रति कैसा भी व्यवहार करे, तुम्हारे मन में उसके प्रति दुर्भावना नहीं आई, सद्भावना ही बनी रही तो उसका सारा प्रयास विफल हो जाएगा और तुम अपने मार्ग में आगे बढ़ जाओगे। परमार्थ एक गणित है – २+२ = ४ के समान है। यदि साधु का मन न बिगड़े तो वह बहुत बलवान होता है।

साधु को हमेशा ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिसमें अपना और दूसरे का भी हित हो। साधु को इस प्रकार रहना चाहिए कि उसके सिर पर कोई बोझ न हो और उसके कारण किसी दूसरे को भी बोझ मालूम न पड़े। यह तभी होगा जब वह कम-से-कम सुविधाओं में जीवन व्यतीत करने का अभ्यास कर ले।

*****

जिज्ञासा :- कथा-सत्सङ्ग के समय आलस्य और निद्रा न आए, इसका क्या उपाय है?

समाधान :- भगवान् राम जब अयोध्या में राज्य करते थे, तो कथा-सत्सङ्ग चलता रहता था। ऋषि लोग कथा कहते थे, भगवान् श्रीराम और बहुत-से लोग साथ बैठकर बड़ी सावधानी से कथा सुना करते थे। निद्रादेवी ने सोचा कि भगवान् के सान्निध्य में इतने लोग कथा सुन रहे हैं, इन सबका तो कल्याण हो जाएगा, पर मेरा कल्याण कैसे होगा? उसने एक युवती का रूप बनाया और आधी रात के समय रामजी के महल के पीछे जोर-जोर से रोने लगी। रामजी की आज्ञा थी कि किसी भी समय कोई दुःखी व्यक्ति आए तो उसे हमारे सामने लाया जाए। हनुमानजी उस समय पहरे पर थे, वे उसके पास पहुँचकर बोले, 'चुप, चुप!' उन्हें डर था कि भगवान् की नींद खराब होगी। पर वह तो और जोर से रोने लगी और बोली, 'हमको तो अभी मिलना है।' अब क्या किया जाए, रामजी का आदेश है किसी दुःखी को रोकना नहीं।

हनुमानजी ने रामजी को जगाया। उन्होंने आकर युवती से पूछा, 'देवि! तुम्हें क्या तकलीफ है?' उसने कहा, 'आपकी कथा में सबको बैठने

का अधिकार है, फिर मुझे क्यों नहीं है?' रामजी ने कहा, 'हमारी तो समदृष्टि है, किसी के कथा सुनने पर कैसे रोक लग सकती है। तुम भी आ सकती हो।' अब तो हो गया काम! दूसरे दिन वह हनुमानजी के सिर पर ही आ गई। कथा में बैठे-बैठे हनुमानजी को निद्रा आने लगी। हनुमानजी ने कहा, 'प्रभो! यह तो अन्याय कर रही है, मेरे ही सिर पर बैठ गई। इसे इतना स्वतन्त्र कर देंगे तब तो यह बहुत बाधा कर देगी।' तब रामजी ने निर्णय दिया कि तुम कथा में आ सकती हो, पर सबके ऊपर नहीं, कुछ लोगों के ऊपर ही आना।

१) कथा में जिसकी श्रद्धा न हो, ऐसे ही बैठा हो, उसके सिर पर बैठ सकती हो।

२) जो कथा में केवल पुण्य के लिए बैठा है, पर कथा उसके समझ में नहीं आ रही है। मन कहीं दूसरी ओर घूम रहा है, वह वास्तव में कथा सुन ही नहीं रहा है। ऐसे व्यक्ति से कोई पूछे कि कथा में क्या हुआ तो कहता है - अरे! अमृत बरस रहा था। फिर पूछो कि कथा क्या थी? तब कहता है - वह तो पता नहीं। ऐसे व्यक्ति के सिर पर तुम बैठ सकती हो।

३) जो कथा में आँख मूँदकर बैठता है, वक्ता के मुख की ओर नहीं देखता, उसके सिर पर बैठ सकती हो।

४) जो खूब भोजन करके कथा में आए और दीवार आदि का सहारा लेकर बैठा हो उसके सिर पर बैठ सकती हो।

इस प्रकार कथा में चार स्थान निद्रादेवी के लिए निश्चित कर दिए। उस बिचारी का शरीर नहीं है, पर कथा सुनने आती है तो किसी के सिर पर उसे बैठना ही पड़ेगा। यदि आप चाहते हैं कि कथा-सत्सङ्ग में निद्रा न आए तो इन चार बातों में सावधान रहना होगा। कथा श्रद्धा से सुनें, पूरा मन लगाकर सुनें, वक्ता की ओर देखते रहें और संयमित भोजन करके सावधान होकर बैठें तो निद्रा नहीं आएगी।

*****

जिज्ञासा :- साधु के लिए शास्त्र विचार से क्या लाभ है? केवल भजन ही क्यों न करें!

समाधान :- जब हम कई वर्ष पूर्व उत्तरकाशी में अध्ययन करते थे, उस समय वहाँ भी कुछ नए महात्मा ऐसे प्रश्न किया करते थे। तब वहाँ के पुराने महात्मा समझाते कि देखो, शास्त्र विचार में यदि मन लग जाए तो इस युग की सबसे बड़ी समाधि समझना चाहिए। व्यक्ति यदि ठीक से शास्त्र विचार करता है तो मन की बहिर्मुखता समाप्त हो जाती है। स्फोट का विचार करो, वर्ण का विचार करो, कोषों का विचार करो - इसमें लगे रहने से बहिर्मुखता का मौका नहीं मिलता, अन्तर्मुखता बढ़ती है। साथ ही बुद्धि भी सूक्ष्म होती जाती है।

शास्त्रों में कहा गया है कि परमात्मा का ज्ञान सूक्ष्म बुद्धि से ही होता है। विचार करते-करते जब किसी गम्भीर शब्द का अर्थ समझ में आ जाता है तो बड़ा आनन्द मिलता है। साधु को भजन तो करना ही है पर शास्त्र विचार भी भजन ही है।

*****

जिज्ञासा :- किसी सन्त ने कहा है - **गुरु पितु मात बन्धु कोई नाही**- इसका तात्पर्य क्या है?

समाधान :- तात्पर्य यही है कि ये सारे सम्बन्ध व्यावहारिक हैं पारमार्थिक नहीं हैं। पिछले जन्म के न पिता याद हैं, न माता, न बन्धु। इसलिए जो आज हैं ये भी याद नहीं रहेंगे। जब तक शरीर है तभी तक यह सम्बन्ध का व्यवहार रहता है। परन्तु परमेश्वर से आपका सम्बन्ध नित्य है। पिछले जन्म में जो परमेश्वर आपका श्वास चला रहा था वही इस जन्म में श्वास चला रहा है, जिसने पिछले जन्म में आपको आँख, कान, नाक दिए उसी ने इस जन्म में दिए हैं। इसलिए परमेश्वर से आपका सम्बन्ध नित्य है और माता-पितादि से व्यावहारिक। अतः परमेश्वर ही हमारा मुख्य सम्बन्धी

है। तुलसीदासजी ने भी कहा है -

जाके प्रिय न राम वैदेही।

तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।।

(विनयपत्रिका-१७४.१)

व्यवहार में जो स्नेह का सम्बन्ध है, वह यदि परमार्थ में बाधक है और तुम परमार्थ के पथिक हो, तो इन सम्बन्धों को छोड़ सकते हो। उसी के लिए यह पंक्ति सन्त ने कही है - गुरु पितु मात बन्धु कोई नाही। पर जिसका लक्ष्य परमार्थ नहीं है, उसे उन सम्बन्धों को छोड़ने का अधिकार नहीं है। उसे तो अपना कर्तव्य निभाना ही पड़ेगा।

*****

जिज्ञासा :- कथा-प्रवचनों में सुना है कि मुक्ति भक्ति की दासी है, वह भक्ति के घर पानी भरती है। क्या यह बात ठीक है?

समाधान :- बहुत अच्छा सुना है आपने। **पर उन लोगों की पानी भरनेवाली मुक्ति अलग है और शांकरवेदान्त की मुक्ति अलग है।** दो लोगों का नाम देवदत्त हो और उनमें से एक चोरी करे तो क्या दूसरे को पकड़ा जाएगा? इसी प्रकार ऐसी जगह जो पानी भरती है उस मुक्ति को पकड़ा जाएगा, वेदान्त प्रतिपादित की मुक्ति को नहीं! वेदान्त की मुक्ति किसी के यहाँ पानी नहीं भरती, वह तो अन्तिम पुरुषार्थ है।

*****

जिज्ञासा :- आपके सत्सङ्ग में सुना कि पुराने महात्मा जब शास्त्रों का अध्ययन कराते थे तो उनके एक-एक शब्द पर बहुत विचार करते थे। दूसरी ओर, आप यह भी कहते हैं कि शास्त्रों के शब्दों में न उलझकर तात्पर्य पर ध्यान देना चाहिए। कृपया इस विरोधाभास का समाधान करें।

समाधान :- शब्दों का जो विचार है वह अध्ययन का विषय है। उसका सम्बन्ध परोक्ष ज्ञान से है। वहाँ जब पंक्तियों पर विचार किया जाता है

तो उसमें जो शब्द आते हैं उनका अर्थ ठीक से समझना ही पड़ेगा, तभी पंक्तियों का वास्तविक अर्थ दिमाग में बैठ पाएगा। उस अध्ययन का परोक्ष ज्ञान से सम्बन्ध है, सीधे साक्षात्कार से नहीं। शास्त्र जो अर्थ बताना चाहता है उसका ज्ञान हमको ठीक ढंग से हो, इसके लिए इस प्रकार का विचार भी आवश्यक है। हमने जो कहा था उसका तात्पर्य है कि पहले के विद्वान् खूब मनन करके शास्त्र को पक्का करके तभी पढ़ाते थे। वे लोग परस्पर बहुत विचार करते थे, उनमें शास्त्र-उपस्थिति (शास्त्रों की स्मृति) बहुत अद्भुत रहती थी और प्रत्येक बात को बड़े विस्तार से, मनोयोग से पढ़ाते थे। विद्यार्थी के चित्त में शास्त्र को उपस्थित कर ही देते थे।

जहाँ हमने कहा शास्त्रों के शब्दों में नहीं उलझना चाहिए तो उसका सम्बन्ध अनुभूति (अपरोक्ष ज्ञान) से है। आपने गुरुमुख से अच्छी प्रकार वेदान्त-श्रवण करके पद-पदार्थ का ज्ञान पक्का कर लिया। इसके बाद जो तत्त्व वहाँ बताया गया उसका मनन, निदिध्यासन आपका कर्तव्य है। यदि तब भी शब्दों में उलझे रहे तो तत्त्वानुभूति नहीं होगी। साधक जो वेदान्त-श्रवण करता है उसका लक्ष्य तो अनुभूति ही है, इसी दृष्टि से हमने यह बात कही थी। जहाँ पठन-पाठन का प्रसंग होगा वहाँ तो शब्दों पर विचार आवश्यक है ही, इसलिए दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- भगवन्! अन्तःकरण की शुद्धि के लिए जप, पूजा, स्तोत्रपाठ यह बड़ा साधन है अथवा सन्तों की सेवा?

समाधान :- सन्तों की सेवा बहुत ऊँची चीज है। यदि ठीक भाव से कोई सन्तों की सेवा करे तो उससे बहुत लाभ हो सकता है। सन्तों को प्रभु का स्वरूप मानकर ही उनकी सेवा करे तो यह परमात्मा की ही पूजा होगी। जप, पूजा, स्तोत्र-पाठादि भी शास्त्रीय कर्म है, इनका भी चित्तशुद्धि के लिए उपयोग है। साधक को यदि सन्तसेवा के बाद समय मिलता है तो उसे उसका

उपयोग जप, स्तोत्रपाठ आदि के लिए करना चाहिए। यदि कभी ऐसा हो कि अचानक बाहर से कोई सन्त आ गए अथवा कोई सन्त बीमार हो गए तो सब कार्य छोड़कर उनकी सेवा पहले करनी चाहिए।

ऐसा भी हो सकता है कि व्यक्ति पूजा या जप में बैठा है, पर मन कहाँ जा रहा है पता नहीं! पर सेवा में सरलता है, वहाँ ज्यादा मन लगाने की आवश्यकता नहीं और सेवाकार्य करते समय मन की चञ्चलता स्वाभाविक ही कम रहती है। सेवा में थोड़ा-सा ध्यान देना पड़ता है कि सेवा को भगवान् से जोड़ दे, सन्त को भगवान् मानते हुए उसकी सेवा करे, इसमें सरलता है। जप करने में नींद भी आ सकती है, विक्षेप भी हो सकता है, पर सेवा में इनकी सम्भावना बहुत कम है। इसलिए चित्तशुद्धि के लिए सन्तसेवा का बड़ा महत्व है, परन्तु जपादि को भी छोटा नहीं समझना चाहिए। यथासम्भव समय निकालकर उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- सन्तों की सेवा चित्तशुद्धि का बड़ा साधन है। सन्तों की सेवा करने पर भी किसी व्यक्ति की जगत् सम्बन्धी कामना नहीं छूट रही हो तो उसके कल्याण का क्या उपाय है?

समाधान :- उसके कल्याण का यही उपाय है कि वह सेवा में लगा रहे क्योंकि उसकी कामना दस दिन में छूटेगी या दस साल में या दस जन्म में यह कोई निर्धारित नहीं है। जितना तुम्हारा प्रतिबन्ध अधिक होगा, उतना ही समय भी अधिक लगेगा। साधना में बारह साल का एक सत्र माना जाता है।

लोग तो कुछ दिन सेवा करते हैं फिर कहते हैं कि लाभ नहीं हुआ। अरे! किसी भी साधना में बारह साल तक तो कुछ बोलने का स्थान ही नहीं है। अभी तुमने तन्मय होकर बारह साल भी सेवा नहीं की होगी और सोचते हो कि तुम्हारी कामना दूर हो जाए। कलियुग में तो मन शुद्ध नहीं है,

सचाई से सेवा नहीं हो पाती क्योंकि रजोगुण अधिक है, साथ ही बहुत-से अपराध भी होते रहते हैं, इसलिए समय और अधिक लगता है।

परमार्थ मार्ग में जल्दबाजी से काम नहीं होता, यहाँ तो बहुत धैर्य की आवश्यकता होती है। श्रुति भी कहती है -

कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् ...(कठ.उप.- २.१.१)

कोई धैर्यशाली पुरुष ही आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है। इसलिए परमेश्वर पर विश्वास रखो, साधना में धैर्य रखो और निश्चय करो कि कितना ही प्रतिबन्ध हो, हम साधना से पीछे नहीं हटेंगे, यही उपाय है।

*****

जिज्ञासा :- सन्तों को महाराज क्यों कहते हैं?

समाधान :- सन्तों को महाराज इसीलिए कहते हैं कि उन्हें कुछ नहीं चाहिए। जिस व्यक्ति के पास ऐश्वर्य होता है और वह अपनी इच्छाओं को पूरा कर सकता है, संसार में उसको राजा कहते हैं। पर चाहे कितना भी बड़ा राजा बन जाए, कोई-न-कोई इच्छा और कमी तो उसमें बनी ही रहेगी। उसे राज्य को चलाने के लिए, आगे बढ़ाने के लिए बहुत चिन्ता भी होती है। राज्य के लिए लड़ाई-झगड़े भी करने पड़ते हैं। सन्त के लिए यह सब झंझट नहीं हैं, वह अपनी स्थिति में तृप्त है, इसलिए वह राजाओं का भी राजा है।

एक बात समझने की है कि एक व्यक्ति को कोई ऐश्वर्य प्राप्त है और दूसरा व्यक्ति है जिसके मन में उस ऐश्वर्य के प्रति पूर्ण विरक्ति है, तो उस ऐश्वर्य से प्राप्त होनेवाला सुख विरक्त पुरुष को स्वतः प्राप्त हो जाता है। जिस ऐश्वर्य को लेकर एक व्यक्ति राजा बना है वह ऐश्वर्य तो उस विरक्त के लिए धूल के समान है। उसकी स्थिति का विचार करोगे तो समझ में आ जाएगा कि सन्तों को महाराज क्यों कहते हैं!

*****

जिज्ञासा :- भगवान् की कृपा और सन्तों की कृपा में क्या अन्तर है?

समाधान :- भगवान् की कृपा ही सन्तों की कृपा है। सन्तों को आखिर किसने प्रकट किया? भगवान् की कृपा ने ही जीवों के कल्याण के लिए सन्तों को संसार में भेजा। भगवान् ने देखा कि मैंने वेद में मनुष्यों के लिए सारा ज्ञान दे दिया, परन्तु माया उस ज्ञान को टिकने ही नहीं देती, गायब कर देती है। तब भगवान् की अनुग्रहशक्ति के द्वारा सन्तों का अवतार होता है। सन्त लोग भगवत्प्रेरणा से यहाँ रहकर एक आदर्श जीवन व्यतीत करते हैं और लोगों को उपदेश देते हैं। उनके सङ्ग से संसारी लोगों का जीवन भी सुधरता है और वे अन्त में माया से छूट सकते हैं। सन्तों के सङ्ग के बिना माया के चक्कर से छूटना असम्भव ही है।

इसलिए जो सन्तों की कृपा है वह भगवान् की ही कृपा है, उसे अलग मत मानो। सन्त का जीवन और उपदेश भगवान् की प्रत्यक्ष कृपा है। हमारी दृष्टि से तो संसार में सब भगवान् की कृपा ही हो रही है, दूसरा कुछ नहीं। हमारी कोई सेवा करता है तो हम यही सोचते हैं कि भगवान् ही सेवा कर रहे हैं, कोई व्यक्ति नहीं। सन्त इस बात को समझता है, पर सामान्य व्यक्ति यही समझता है कि लोग कर रहे हैं। सन्त समझता है कि प्राण, बुद्धि, मन सबको ईश्वर ही चला रहा है, मैं क्या कर सकता हूँ, इसलिए सन्त कभी अहंकार नहीं करता। वह तो उपदेश भी भगवान् की कृपाशक्ति की प्रेरणा से ही करता है। इसलिए हमारी दृष्टि में तो भगवत्कृपा और सन्तकृपा में कोई अन्तर नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- कभी-कभी देखा जाता है कि महापुरुष चरित्रहीन व्यक्ति पर तो कृपा कर देते हैं और चरित्रवान् व्यक्ति उनकी कृपा प्राप्त नहीं कर पाता। इसमें क्या महापुरुषों के द्वारा किए गए पक्षपात के अतिरिक्त कोई हेतु है?

समाधान :- यदि आप महापुरुषों की बात करते हैं तो उनमें न किसी प्रकार का पक्षपात होता है और न ही किसी से कोई स्वार्थ। अन्य किसी की बात मैं नहीं करता हूँ। यदि आपको महापुरुषों द्वारा किसी चरित्रहीन व्यक्ति पर कृपा की गई दीखती है तो उस व्यक्ति का पूर्वजन्मकृत पुण्य ही समझना चाहिए। यदि चरित्रवान् व्यक्ति के प्रति महापुरुषों की उपेक्षा दीखती है तो उसमें उस व्यक्ति के द्वारा पूर्व जन्म में किए गए सत्कर्मों का अभाव समझना चाहिए, भले ही वह वर्तमान में चरित्रवान् दीखता है। इसका फल जब प्रकट होगा तो महापुरुषों की कृपा भी उसपर दीख सकती है। महापुरुषों में तो यह भी संकल्प नहीं उठता है कि इस पर कृपा करें या इस पर न करें। व्यक्ति पात्र हो तो वह स्वतः कृपा प्राप्त कर लेता है। इसलिए महापुरुषों में किसी प्रकार के पक्षपात की कोई सम्भावना नहीं रहती है, बल्कि व्यक्ति का अपना पुण्य ही उस कृपा में मुख्य रूप से हेतु बनता है। पुण्य का अभाव ही उपेक्षा में हेतु बनता है।

*****

जिज्ञासा :- यदि व्यक्ति द्वारा पूर्वजन्म में किया पुण्य ही कृपा में हेतु है तो महापुरुषों को बीच में लाने की क्या आवश्यकता है?

समाधान :- महापुरुषों की कृपा का बड़ा महत्व है, पर वह तभी दीखती है जब व्यक्ति उसको धारण करने का अधिकारी होता है। पूर्वकृत सत्कर्म तो उस व्यक्ति में अधिकारित्व लाता है और कृपा उसका फल देती है। अतः महापुरुषों की कृपा की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्र साधु से कहता है कि गृहस्थ का संग न करे और गृहस्थ को कहता है साधु का संग करे - इस प्रकार दो विरोधाभास वाली बातें कैसे हो सकती है?

समाधान :- दो बातों में विरोधाभास तो तब होता है जब वे एक ही

व्यक्ति के लिए विधि-निषेध के रूप में साथ-साथ कही हों। यहाँ साधु के लिए गृहस्थ के संसर्ग का निषेध किया है और गृहस्थ के लिए साधु के संसर्ग का विधान किया गया है। विचार करने पर मालूम पड़ता है कि ऐसा क्यों कहा है। गृहस्थ साधु के साथ रहकर उसका आचार-विचार देखेगा, उपदेश सुनेगा या उसकी सेवा करेगा तो गृहस्थ का जीवनस्तर ऊपर उठेगा।

साधु को तो गृहस्थ के आचार-विचार से लेना-देना नहीं है, उल्टा गृहस्थ के सङ्ग से तो उसके चिन्तन के समय में कटौती हो जाएगी, साथ में दुनिया का ज्ञान भी बढ़ेगा। इस प्रकार साधना में विघ्नरूप होने से उसे गृहस्थ के संग से दूर रहने के लिए कहा है। इसी प्रकार गृहस्थ को कहा साधु की पूजा करो क्योंकि उससे उसका कल्याण होगा, पर साधु में जो पूजा कराने का संकल्प होगा उससे तो साधु की हानि ही होगी। इसलिए शास्त्र जो कहता है उसमें किसी प्रकार का विरोधाभास नहीं समझना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- महात्माओं के नाम से पहले १०८ या १००८ इत्यादि लगाते हैं, क्या यह शास्त्रीय है?

समाधान :- महात्माओं के नाम के पहले श्री लगाते हैं तो उसके साथ १०८, १००८ लगाते हैं, पर कुछ लोग तो इतने से भी सन्तुष्ट नहीं होते और अनन्त लगा देते हैं ऐसा अधिक सम्मान देने के लिए करते हैं। श्री के साथ १०८ इत्यादि लगाने का तात्पर्य १०८ बार श्री लगाना है। शास्त्र में इसका कुछ उल्लेख नहीं है पर यह एक परम्परा चल पड़ी है।

*****

जिज्ञासा :- दिन में सोना शास्त्र में निषेध किया है, पर महापुरुषों को भी दिन में सोते हुए देखा गया है। इसमें क्या हेतु है?

समाधान :- आजकल सतयुग, त्रेतायुग के समान तो शरीर है नहीं। साधक सुबह जल्दी उठकर भजन में लग जाता है। भजन करके सेवा इत्यादि

करता है तो शरीर को विश्राम की आवश्यकता पड़ती ही है। विश्राम करना अलग बात है और सोना अलग बात है। प्रायः देखा जाता है कि महापुरुष लोग भी दोपहर में भोजन के उपरान्त अपने कमरे का दरवाजा बन्द कर लेते हैं और चार बजे खोलते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं है कि वे चार बजे तक सोते रहते हैं। थोड़ा विश्राम करके फिर चिन्तन में लग जाते हैं। इस बात को समझे बिना आक्षेप नहीं लगाना चाहिए।

*****

भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन
सत्सङ्गमेव लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः।।
(पद्मपुराण)

शरणागति

जिज्ञासा :- सन्त लोग प्रायः उपदेश देते हैं कि भगवान् के शरणागत हो जाओ, यही सरल मार्ग है। परन्तु हमें तो लगता है कि चित्त की शुद्ध अवस्था आए बिना यह सम्भव नहीं है। फिर सामान्य व्यक्ति शरणागत कैसे हो सकता है?

समाधान :- सन्त लोग यह तो नहीं कहते कि चित्त शुद्ध मत करो। वह शरणागति का साधन है, इसलिए उसका भी उपाय बताते हैं। चित्तशुद्धि भी तो भगवन्नाम के स्मरण से ही होगी। भगवान् से कुछ माँगो मत, जो भी कामना आए, उसे भगवान् के चरणों में समर्पित कर दो। झूठ मत बोलो, भगवान् को अपने जीवन का हिसाब दिया करो, अपनी गलतियों के लिए रोज भगवान् के चरण पकड़कर रो लिया करो। अपने जीवन का सतत निरीक्षण करो कि हमारा कितना समय व्यर्थ बीत रहा है। यदि हमारे जीवन का लक्ष्य शरणागति है तो उसके साधनों के अभ्यास में ही हमारा सारा समय बीतना चाहिए। इससे अलग यदि कहीं समय जा रहा है तो वह व्यर्थ ही है।

साधक को सोचना चाहिए कि हमें दूसरों की निन्दा सुनना और करना क्यों अच्छा लगता है! हम गपशप में क्यों समय खो रहे हैं? हमारा समय तो भगवच्चरित सुनने में, मन्त्र-सुमिरन में ही बीतना चाहिए। साधक को बहुत सावधानी से अपनी २४ घण्टे की गतिविधियों का आँकलन करना चाहिए। अपने जीवन को एकदम नियमित और संयमित रखो और जब अपने को कमजोर पाओ तो भगवान् के चरण पकड़कर उचित ज्ञानशक्ति के लिए प्रार्थना करो।

कोई व्यक्ति एक वर्ष तक नियमित रूप से ऐसा अभ्यास कर ले तो उसे जीवन में कुछ-न-कुछ चमत्कार मालूम होगा। यदि व्यक्ति कमजोर है,

योगसाधना, वेदान्त-चिन्तन नहीं कर सकता तो उसके लिए शरणागति को छोड़कर दूसरा उपाय क्या है! इसीलिए सन्त लोग सामान्य लोगों को इसी का उपदेश करते हैं। किसी सन्त ने कहा है –

पा पकरे बिन गति नहीं, पाप करत दिन जात।
पा पकरे ते हरि मिलें, पा पकरो दिन रात।।

पा का अर्थ होता है - पैर। भगवान् के पैर पकड़े बिना हमारी कोई गति नहीं है। क्यों? इसलिए कि **पाप करत दिन जात।** इस जीव का सारा दिन तो पाप करते-करते ही बीत जाता है, पुण्य तो है ही नहीं, इसलिए कमजोर है। ऐसी स्थिति में भगवच्चरण पकड़े बिना दूसरा उपाय ही क्या है! अब पूछो कि इससे क्या होगा? तो कहा - **पा पकरे ते हरि मिलें,** चौबीस घंटे भगवान् के चरण पकड़े रहो, जगत् को मत पकड़ो तो भगवान् मिल जाएँगे। इसीलिए कहा – **पा पकरो दिन रात,** भगवान् के चरणों को हृदय से मत निकालो, उन्हें पकड़कर ही सारा व्यवहार करो तो भगवान् क्यों नहीं मिलेंगे! इसलिए महात्मा लोग शरणागति का उपदेश करते हैं तो कौन-सी गलती करते हैं!

*****

जिज्ञासा :-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।
(गीता-२.७)

इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन अपनी गलती को स्वीकार करके

भगवान् की शरण में चला गया। फिर भी भगवान् ने उससे कहा -

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ... (गीता-१८.६६)

तुम अन्य सभी कर्तव्यरूपी धर्मों को त्यागकर मेरी शरण में आ जाओ। जब अर्जुन पहले से ही शरण में चला गया तो पुनः भगवान् ने ऐसा क्यों कहा?

समाधान :- यहाँ पर अर्जुन के द्वारा स्वतः भगवान् की शरण में जाना और पुनः भगवान् के द्वारा उसे शरणागति के लिए प्रेरित करना - दोनों शरणागतियों में अन्तर है। अर्जुन ने कहा कि मैं आपकी शरण में हूँ, जैसे आप चलाएँगे वैसे ही चलूँगा, पर यदि ऐसा वह सचमुच स्वीकार करता तो आगे बहुत-सी शंकाएँ क्यों करता? किसी निमित्त को लेकर शरण में जाना अलग बात है। अर्जुन की समस्या धर्म के विषय में थी और वह धर्म के विषय में ही भगवान् से उपदेश चाहता था। इसलिए उसने शरण स्वीकार की। वह केवल एक समस्या को लेकर शरण में गया था। अपनी अहंता को उसने थोड़े ही समर्पित कर दिया था।

अठारहवें अध्याय में जो भगवान् ने कहा है वह एक समस्या की दृष्टि से नहीं कहा है। पहले धर्म के विषय में समस्या थी जिसका निवारण तो हो गया। अब वह समझ सकता है कि जीवन में धर्म का आधार लेकर आगे बढ़ सकता हूँ, स्वर्गादि प्राप्त कर सकता हूँ, तब भगवान् ने कहा -

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज...(१८.६६)

यहाँ पर भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई आश्रय नहीं है।

भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा...(मानस,अरण्य-४२.२)

यहाँ पर धर्मादि के आश्रय से मैं स्वर्गादि प्राप्त करूँगा, ऐसा कुछ भी नहीं है। यही पूर्व में अर्जुन के द्वारा ग्रहण की गई शरण और अठारहवें अध्याय में भगवान् के द्वारा कथन की गई शरणागति में अन्तर है।

*****

जिज्ञासा :- सच्चा शरणागत भक्त किसे समझा जाए?

समाधान :- शास्त्रों में शरणागति के छः अङ्ग बताए गए हैं –

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनं।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।।

(अहिर्बुध्न्य संहिता)

शरणागत भक्त वही काम करे जो भगवान् को अच्छा लगे, अपने को अच्छा लगे या न लगे, यह नहीं देखना है। भगवान् को अच्छा कब लगेगा? जब भगवान् की आज्ञा का पालन करेगा। भगवान् कहते हैं - **श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे।** श्रुति-स्मृति भगवान् की आज्ञा है, इसलिए शरणागत भक्त इनका अनुसरण करता है। यही **आनुकूल्यस्य संकल्पः** है।

कोई ऐसा व्यवहार न करे जो भगवान् को बुरा लगे। भगवान् को बुरा कब लगेगा? जब उसकी आज्ञारूप शास्त्र का उल्लंघन करेगा। जैसे शास्त्र ने कहा – **सत्यं वद। धर्मं चर।** सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। जब कोई इसके विपरीत चलता है तो भगवान् को बुरा लगता है। शरणागत भक्त ऐसा नहीं करता, इसी का नाम है - **प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।**

भक्त को भगवान् के प्रति पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि वह हमारी रक्षा अवश्य ही करेगा। इसी को श्लोक में **रक्षिष्यति इति विश्वासः** कहा है। उसे किसी प्रकार की शंका नहीं होनी चाहिए अन्यथा सोचेगा चलो थोड़ा भगवान् का सहारा लें और थोड़ा जगत् का भी ले लें। ऐसे में शरणागति नहीं कह सकते।

जब उसे विश्वास हो जाएगा कि भगवान् हमारी रक्षा करेगा तो वह उसे गोप्ता (रक्षक) के रूप में वरण कर लेगा - **गोप्तृत्वे वरणम्।** जब वह रक्षक के रूप में भगवान् को स्वीकार कर लेगा तब अपना अहंकार

त्यागकर समर्पित हो जाएगा अर्थात् भगवान् के हाथ की कठपुतली बन जाएगा। यही है - **आत्मनिक्षेप।**

जब आत्मसमर्पण कर देगा, तब वह अपने कर्तापन का अहंकार त्याग देगा। उसे यदि कोई कहे कि तुम भी करो तो वह कहेगा - हमारे अन्दर कुछ भी करने का कोई सामर्थ्य नहीं है। जो कुछ भगवान् करवा रहे हैं वही मैं कर रहा हूँ। बस! मैं तो भगवान् को प्रणाम ही कर सकता हूँ और कुछ नहीं कर सकता। इसी को कहते हैं - **कार्पण्य।**

इस प्रकार छः अङ्ग मिलाकर शरणागति पूर्ण होती है। जिसके अन्दर ये गुण हैं वही सच्चा शरणागत भक्त हो सकता है।

*****

जिज्ञासा :- कोई व्यक्ति कहता है कि मैं भगवान् की शरण में हूँ। हम कैसे समझें कि वह सच में ऐसा है?

समाधान :- इस बात को तो वह स्वयं ही जान सकता है, पर वह है या नहीं इसमें आपको क्या लाभ-हानि होनेवाली है! आप शरण में हो या नहीं, इस पर विचार करो।

*****

जिज्ञासा :- क्या संन्यासी को योगाभ्यास करना चाहिए?

समाधान :- योगाभ्यास करने का संन्यास से कोई विरोध तो नहीं दीखता। योगाभ्यास करने के लिए ही तो संन्यास लिया जाता है।

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया। (योगवासिष्ठ)

यह योगाभ्यास नहीं है तो और क्या है? मन और इन्द्रियों का संयम करना, चित्त को परमात्मा में समाहित रखना, ये सब योगाभ्यास ही है। गीतामें भी कहा -

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।(१८-५२,५३)

यहाँ संन्यासी के लिए ही कहा गया है कि वह ब्रह्म को प्राप्त करना चाहता है तो उसे नित्य ही ध्यानयोगपरायण होना पड़ेगा। योगाभ्यास का अर्थ केवल आसन, प्राणायाम करना ही नहीं होता। परमात्मा की प्राप्ति के लिए जिस भी साधन का अभ्यास किया जाए, वह योगाभ्यास ही है।

यदि कोई संन्यासी सिद्धि के लिए योगाभ्यास करता है तब तो वह लक्ष्य से भटक जाता है। संन्यासी के लिए आत्मयोग का अभ्यास ही मुख्य है। लक्ष्य में अनुकूल जो योगाभ्यास है वह तो उसके लिए अनिवार्य है।

*****

जिज्ञासा :- प्राणायाम का अभ्यास किस प्रकार करें और उसमें क्या सावधानी रखनी चाहिए?

समाधान :- साधक सबसे पहले इस बात का ध्यान रखे कि

अष्टाङ्गयोग में क्या क्रम कहा गया है। सबसे पहले यम-नियम कहे गये हैं, इसलिए उन्हें जीवन में दृढ़ता से धारण करना पड़ेगा। जिस व्यक्ति को समाधि प्राप्त करनी है उसका आसन सिद्ध होना चाहिए, अर्थात् बिना किसी समस्या के तीन घण्टे तक एक आसन पर बैठ सके अथवा कम-से-कम एक घण्टा तो अनिवार्य है। इसके बाद ही प्राणायाम के अभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए।

प्राणायाम के समय आहार-विहार का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। योगग्रन्थों में इस विषय में काफी विस्तार से लिखा है। साधक को वहाँ से समझ लेना चाहिए। आहार-विहार में व्यतिक्रम होने पर प्रायः प्राणायाम बिगड़ जाता है तो रोग हो जाते हैं और योगज बीमारी असाध्य हो जाती है। हमारे गुरुजी के गुरु महाराज युवावस्था में प्राणायाम का अभ्यास करते थे। एक दिन गलती से भैंस के दूध का मट्ठा पी लिया, उसीसे उनका प्राणवायु कुपित हो गया। तभी से कुछ-कुछ दिनों के अन्तराल में उनके पेट में भयंकर शूल होता था और कोई भी दवा उसपर काम नहीं करती थी।

इसी प्रकार अपने शरीर की क्षमता को भी समझना चाहिए कि कितना प्राणायाम हम सहन कर सकते हैं अन्यथा समस्या आती है। हमने स्वयं एक गृहस्थ साधक को देखा है जिन्होंने एक उच्च कोटि के गुरु से प्राणायाम सीखा था। दिन में पाँच-पाँच घण्टे तक उसका अभ्यास करते थे, परन्तु बाद में एक दिन प्राण नाड़ियों में फँस गया, उसके बाद से हमेशा उनके शरीर में कम्पन होता रहता था। उनके गुरुजी का शरीर उस समय तक शान्त हो चुका था, दूसरा कोई व्यक्ति उन्हें ठीक नहीं कर पाया। इसलिए प्राणायाम का अभ्यास अनुभवी गुरु के निर्देशन में उनके निकट रहकर ही करना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- चित्त को वृत्तिहीन करने के अभ्यास के लिए कृपया अपने अनुभव से कुछ उपाय बताएँ।

समाधान :- हम लोग आधे-अधूरे ज्ञान से विचार करने लगते हैं। हमारी स्थिति क्या है और कैसी साधना इस समय हम कर सकते हैं, इस पर ध्यान नहीं देते हैं। एक मन ऐसा होता है जो बरसाती नदी के समान मर्यादाओं को तोड़ता रहता है, वह शास्त्र और लोक दोनों की मर्यादाओं को तोड़ता है, उस मन में राग-द्वेष-ईर्ष्या आदि कीचड़ भरा रहता है। ऐसे मन से योग की साधना नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति का मन ऐसा है, वह चित्तवृत्ति का निरोध करने की सोचे तो यह कभी सम्भव नहीं होगा।

चित्त की क्षिप्त और मूढ़ इन दो अवस्थाओं में योगसाधना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में तो चित्त को शुद्ध करने के लिए जो उपाय बताए गए हैं, उन्हीं में तत्परता से लगना चाहिए। जब चित्त शुद्ध होकर थोड़ा आपके हाथ में आ जाए अर्थात् लक्ष्य में लगाने पर कुछ देर ठहरे और कुछ देर बाहर जाए तब आप चित्तवृत्तिनिरोध के लिए प्रयास आरम्भ कर सकते हैं। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा धीरे-धीरे चित्त को आप अपने हाथ में ले सकते हैं।

इसके बाद चित्त को रोकने की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं, उनका ज्ञान रखना पड़ता है, उसमें कुछ प्राणायाम, कुछ नियम और कुछ उपेक्षा का योग है। कई बातें ऐसी होती हैं जिन्हें आप बिना उपेक्षा के नहीं छोड़ सकते। कोई-कोई आदत जल्दी नहीं छूटती है तो उसके लिए उपेक्षा ही अस्त्र होता है। साथ ही सत्सङ्ग और ईश्वर-चिन्तन को बढ़ाना चाहिए। इसके साथ जब विपरीत बातों को आप न सुनेंगे, न पढ़ेंगे, न कहेंगे तो धीरे-धीरे वह आदत छूट जाएगी। इस मार्ग में दृढ़ता और धैर्य की बहुत आवश्यकता है। यह काम एक-दो दिन में होनेवाला नहीं है, कई जीवन इसमें बीत जाते हैं। पूरा जीवन बीत जाने पर यदि परमार्थ मार्ग में एक कदम भी आप आगे बढ़ सकें तो भी समझना कि बड़ी सफलता मिली है। अब अगले जन्म में उसके आगे से आप शुरू कर सकते हैं।

योगाभ्यासी को जीवन में छोटी-छोटी बातों पर भी बहुत सावधान रहना चाहिए। अपने लक्ष्य के विपरीत न कोई बात सुने, न कोई साहित्य पढ़े, कहीं भी व्यर्थ समय न गँवाए और जीवन में ईश्वर-सम्बन्ध को सुदृढ़ करता रहे। ऐसा करने से चित्तनिरोध की ओर वह बढ़ सकता है - यही हमारा अनुभव है।

*****

जिज्ञासा :- प्राण और अपान पर किस साधना द्वारा विजय पाई जा सकती है?

समाधान :- योगशास्त्र में बताए गए चतुर्थ प्राणायाम का अभ्यास करते-करते यदि ईश्वरकृपा से सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुल जाए और प्राण-अपान दोनों सम होकर उसमें चलने लगें तो उनपर विजय प्राप्त की जा सकती है।

*****

जिज्ञासा :- गीता के अष्टम अध्याय में योगी के शरीर छोड़ने के विषय में कहा गया है -

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।(१२,१३)

यहाँ शंका यह है कि जब योगी के प्राण मूर्धा में पहुँच गए तो वह ओंकार का स्पष्ट उच्चारण कैसे कर सकता है?

समाधान :- यहाँ दो बातों का ध्यान रखना पड़ेगा। एक तो यहाँ पर जिस योगी की चर्चा है वह पहले से ही जानता है कि उसे शरीर कैसे छोड़ना है। कोई काम समय आने पर वही कर सकता है जो पहले से निर्धारित करके रखे और साथ ही उसमें वह करने की योग्यता हो। यह एक शास्त्रीय विधि है

जिसे वह जानता है। शरीर छोड़ते समय वह योगी इन्द्रियों का संयम करके मन को हृदय में निरुद्ध करता है और सुषुम्ना द्वारा प्राण को मूर्धा में ले जाता है। उसे यह ज्ञान है कि मूर्धा में स्थित ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करके हमारा प्राण निकलेगा तो हमें ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी क्योंकि मूर्धा में जो सुषुम्ना नाड़ी है उसका सम्बन्ध ब्रह्मलोक से है।

प्राण के वहाँ स्थित होने पर योगी द्वारा किया गया प्रणव का उच्चारण वैसा ही होता है जैसी स्थिति में उसका मन होता है। वहाँ मन का उच्चारण ही वाणी का उच्चारण हो जाता है और वह बहुत स्पष्ट होता है। स्वप्न में जो उच्चारण आप करते हैं क्या वह कमजोर होता है! स्वप्न में आप झगड़ा भी करते हैं, चिल्लाते भी हैं। वहाँ का उच्चारण कमजोर तो नहीं होता, बहुत स्पष्ट उच्चारण होता है। भले ही बाहर का व्यक्ति न सुने, पर आपके लिए वह उच्चारण एकदम स्पष्ट होता है। इसी प्रकार इस स्थिति में योगी जो प्रणव का उच्चारण करता है, वह उसके लिए बहुत स्पष्ट होता है। उसे बाहर का व्यक्ति सुने या न सुने इससे कोई मतलब नहीं है। वह उच्चारण मध्यमा से हो, पश्यन्ति से हो अथवा परा से, इसमें भी कोई तात्पर्य नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- असम्प्रज्ञात समाधि में स्थित साधक जब कोई प्रयास नहीं कर सकता तो उसके समाधि से बाहर आने में हेतु क्या है?

समाधान :- असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त का निरोध हो जाता है। वहाँ साधक की रक्षा या समाधि से बाहर आना प्रयाससाध्य नहीं है। जैसे सुषुप्ति कैसे और कब तक बनी रहे, यह व्यक्ति के प्रयास पर निर्भर नहीं करता। उसके संस्कार ही उसको सुषप्ति से बाहर लाते हैं। इसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि से बाहर लाने में हेतु उसके संस्कार ही हैं क्योंकि अभी संस्कार समाप्त नहीं हुए हैं।

जिज्ञासा :- गृहस्थ आश्रम में रहनेवाले व्यक्ति का चित्त-निरोध कैसे हो सकता है?

समाधान :- गृहस्थ आश्रम में रहनेवाले व्यक्ति को चित्त-निरोध की अपेक्षा चित्तशुद्ध करने केविषय में विचार करना चाहिए। अभी निरोध कहाँ से होगा! अपरिग्रह का पालन करना ही गृहस्थ के लिए बड़ा कठिन है और अपरिग्रह का पालन हुए बिना चित्त-निरोध होना सम्भव नहीं है। इसलिए गृहस्थ को चित्तशुद्धि का ही प्रयास करना चाहिए क्योंकि अभी उसको बहुत व्यवहार करना है। वृत्तिरहित चित्त से व्यवहार सम्भव नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में कुण्डलिनी के स्वरूप के विषय में अलग-अलग मत हैं। साधक उसके किस स्वरूप को ध्येय बनाए?

समाधान :- कुण्डलिनी जीवशक्ति है। वह सुषुप्त अवस्था में रहती है। जब तक जीव अपने को इस साढ़े तीन हाथ के शरीर में परिच्छिन्न समझता है, तब तक लगता है कि वह साढ़े तीन वलय बनाकर मूलाधार में सोई है। उसे जगाने की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। उनके द्वारा उसके जागने पर जिसका जैसा संस्कार होता है अथवा जैसी प्रक्रिया है, उसी के अनुसार उसे अनुभव होता है। वस्तुतः कुण्डलिनी कोई स्थूल वस्तु नहीं है। ध्येय तो अपने इष्ट को ही बनाना चाहिए, कुण्डलिनी को नहीं।

*****

जिज्ञासा :- सुषुप्ति और सम्प्रज्ञात समाधि के आनन्द में मौलिक रूप से क्या भेद है?

समाधान :- सम्प्रज्ञात समाधि का आनन्द चित्तवृत्तिरूप है और सुषुप्ति का आनन्द अविद्यावृत्ति में प्रतिफलित है। समाधि का आनन्द

प्रतिफलित नहीं है, बल्कि स्वाभाविक है।

*****

जिज्ञासा :- अमनस्कयोग क्या है? कृपया इसको प्राप्त करने की कोई एक विधि बताइए।

समाधान :- मन के विचारों से रहित होने का नाम **अमनस्कयोग** है। अकृत्रिम अमनस्कयोग तब प्राप्त होता है जब निर्विकल्प समाधि में मन लय को प्राप्त होता है। तब व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है। विषयों का चिन्तन करते समय व्यक्ति को लगता है कि मन की वृत्तियों की धारा अविरल चल रही है। वस्तुतः ऐसा नहीं होता है। सावधानीपूर्वक निरीक्षण करने पर पता चलता है कि दो वृत्तियों के बीच कुछ अन्तराल रहता है। उस अन्तराल में आत्मा का प्रकाश होता है, जिसका योगी लोग अनुभव करते हैं। सामान्य लोगों का तो वह विषय नहीं है। भगवान् भाष्यकार ने भी कहा है –

मुक्ताभिरावृतं सूत्रं मुक्तयोर्मध्य ईक्षते।
तथा वृत्तिविकल्पैश्चित्स्पष्टा मध्ये विकल्पयोः॥
(लघुवाक्यवृत्ति-१०)

जैसे मोतियों की बनी माला में धागा मोतियों में ही छिपा रहता है, पर सावधानीपूर्वक देखने पर दिखाई देता है, वैसे ही आत्मा मनोवृत्तियों में दबी हुई सी लगती है। पर सूक्ष्मतापूर्वक निरीक्षण करने पर उन्हीं मनोवृत्तियों के अन्तराल में प्रकाशित होती है। **इसलिए कोई अभ्यास करते हुए दो वृत्तियों के अन्तराल को धीरे-धीरे यदि बढ़ाए तो वह आत्मा का दर्शन कर सकता है। यह विधि अमनस्कयोग है।**

*****

जिज्ञासा :- लम्बिकायोग का क्या लाभ है और इसका अभ्यास कैसे होता है?

समाधान :- इस योग का अभ्यास करनेवाले योगी के सहस्रार से अमृत का स्राव होकर पूरे शरीर में प्रवाहित होता है जिससे उसकी भूख-प्यास शान्त हो जाते हैं, शरीर स्वस्थ रहता है और वह दीर्घायु होता है। इसका विवरण हठयोग के ग्रन्थों में मिलता है, पर इसे पुस्तक देखकर नहीं करना चाहिए, किसी योगी गुरु के सान्निध्य में रहकर करना ही उचित है।

इसकी विधि में कहा गया है कि जिह्वा के नीचे के हिस्से (जहाँ से वह मूल से जुड़ी हुई है) की चमड़ी को थोड़ा काटकर औषधी से उसका घाव ठीक करना चाहिए। इस प्रकार एक साथ न करके कई बार ऐसा करना पड़ता है। फिर अभ्यास करके जिह्वा की लम्बाई को बढ़ाया जाता है जिससे वह पतली भी होती है। फिर उसे लपेटकर अन्दर ले जाकर तालु के पीछे ऊपर की ओर छिद्र में स्थित करना चाहिए। फिर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। तब सहस्रार से अमृत का स्राव होता है जो पूरे शरीर में व्याप्त हो जाता है। यह अमृतस्राव स्थूल वस्तु नहीं है, केवल अनुभववेद्य ही है। कोई दूसरा उसे देखना चाहे, तो नहीं देख सकता।

*****

जिज्ञासा :- किसी साधक का निश्चय हो कि आत्मा निराकार है और आकृतियाँ मिथ्या हैं, तब उसे जप के समय ध्यान किसका करना चाहिए?

समाधान :- कोई भी साधना साधक की योग्यता पर निर्भर करती है और वह योग्यता साधक को ही पहचाननी पड़ेगी। यदि साधक चैतन्य भाव में सतत स्थित रहता है और उसे दृढ़ निश्चय हो गया है कि आकृतियाँ मिथ्या हैं तो उसे किसी मूर्ति का अवलम्बन लेने की आवश्यकता नहीं है। जब उसको यह निश्चय हो जाए कि आकृतियाँ मिथ्या हैं तो उसका मन स्वाभाविक ही शान्त हो जाएगा। यह बात साधक स्वयं ही जानेगा कि क्या सचमुच ऐसा हो रहा है? यदि ऐसा नहीं हो रहा है तो उसकी स्थिति अभी चैतन्य भाव में सतत

रहने की नहीं है, उसने मात्र सुनकर या पढ़कर जाना है।

ऐसी स्थिति में तो उसे कोई अवलम्बन लेना ही चाहिए। चाहे वह किसी देवता की मूर्ति का हो अथवा गुरु की मूर्ति का या मन्त्रार्थ-चिन्तन का। यदि ऐसा नहीं करेगा तो जप के समय जगत्-सम्बन्धी चिन्तन होगा। जब वह किसी अवलम्बन के माध्यम से आगे बढ़ेगा तो उसे धीरे-धीरे समझ में आएगा - **ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।** तब उसे किसी बाह्य-अवलम्बन की आवश्यकता नहीं रहेगी।

*****

दोष-विचार एवं निवारण

जिज्ञासा :- क्या गृहस्थ को साधु का अन्न खाने से दोष लगता है?

समाधान :- यह तो खानेवाले की दृष्टि पर निर्भर करता है। खाना दो प्रकार का होता है - एक खाने की दृष्टि से, दूसरा प्रसाद की दृष्टि से। यदि गृहस्थ प्रसादरूप में साधु के यहाँ भोजन ग्रहण करता है तो उसे कोई दोष नहीं लगता। हिमाचल प्रदेश में तो आश्रम में भण्डारे का प्रसाद पाने को बहुत महत्व देते हैं, उसे बड़ा पवित्र समझते हैं। बड़े पैसेवाले लोग भी साधारण लोगों के साथ जमीन पर बैठकर श्रद्धा से प्रसाद पाते हैं।

परन्तु जो व्यक्ति स्वाद की दृष्टि से अथवा सुविधा (पैसा बचाना या कामचोरी) की दृष्टि से खाता है, उसे तो दोष जरूर लगेगा। अतः गृहस्थों को इस विषय में सावधान रहना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- मुझे असत्य बात और अन्याय पर बहुत क्रोध आता है, कृपया इसे शान्त करने का कोई उपाय बताएँ।

समाधान :- क्रोध को शान्त करने का उपाय तो सरल है, केवल अपनी विचारधारा और दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। पहले ट्रेन में यात्रा के समय यदि कोई मेरी बगल में बीड़ी-सिगरेट पीता तो मुझे बड़ा खराब लगता था, बहुत क्रोध भी आता था। हमारे मन का नहीं होता था इसीलिए क्रोध आता था। एक दिन मन में ऐसा विचार आ गया कि इस मन की शान्ति के लिए तुम चाहते हो कि वह बीड़ी न पीए और वह अपने मन की शान्ति के लिए पीता है। अपने मन की शान्ति के लिए तुम ऐसा सोचते हो, उसके मन को अपना क्यों नहीं मानते। उस मन में प्रसन्नता हो यही ठीक है, हम सहन कर लेंगे। ऐसे विचार से क्रोध आना खत्म हो गया। इस विचार का

प्रभाव मैंने देखा कि मेरे मन में ऐसे व्यक्ति के प्रति दुर्भावना नहीं रहती थी।

हमने ऐसा सुना है कि स्वामी विवेकानन्दजी एक बार हिमालय यात्रा में रास्ता भटक गए थे। तीन-चार दिन तक जंगल में कहीं भोजन नहीं मिला। अचानक देखा कि एक बाघ रास्ते में खड़ा गुर्रा रहा है। उन्होंने वहाँ खड़े-खड़े आँखें बन्द कर लीं, भय भी लगा। कुछ देर बाद मन में विचार आया कि मुझे बहुत भूख लगी है, यदि इस समय भोजन मिल जाए तो कितना आनन्द आएगा। क्या पता इस बाघ को भी कई दिन से भोजन न मिला हो, यह इस शरीर को खा ले तो इसे भी बहुत आनन्द मिलेगा। ऐसा विचार आते ही अन्दर आनन्द आ गया, भय दूर भाग गया। कुछ देर बाद आँखें खोलीं तो बाघ वहाँ नहीं था। मेरे कहने का तात्पर्य है कि दूसरे के मन को सुख देने की वृत्ति मन में आ जाए तो क्रोध-भय आदि विकार शान्त हो जाते हैं।

क्रोध तो इसीलिए आता है कि अपने मन का नहीं हुआ। अरे! तुम्हारे मन का नहीं हुआ तो दूसरे के मन का हो गया, बात इतनी ही है। यदि कहो कि दूसरा अन्याय कर रहा है तो इसके लिए कानून तुम्हारे हाथ में नहीं है। वह तो परमेश्वर के हाथ में है। एक अन्याय वह कर रहा है, तुम क्यों दूसरा अन्याय करने जा रहे हो। क्रोध करना भी तो अन्याय ही है। तुम अन्याय मत करो, न्याय में रहो तो थोड़ा विचार करने पर क्रोध शान्त हो जाएगा।

क्रोध को सहने की शक्ति सबमें है, पैसे के लोभ से व्यक्ति क्रोध को सह लेता है तो परमार्थ के लोभ से क्यों नहीं सहता। साधक के अन्दर परमार्थ का महत्व ठीक प्रकार बैठ जाए, वह सोचे कि क्रोध से तो हमारा परमार्थ ही बिगड़ जाएगा तो सह लेगा। गीता में कहा भी है -

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।(५.२३)

व्यक्ति क्रोध को सह लेगा तभी उसे निवृत्त कर पाएगा अन्यथा नहीं।

*****

जिज्ञासा :- मोह का स्वरूप कैसा होता है?

समाधान :- संसार में कोई भी वस्तु आपको मिले, तो आप हमेशा उसे पकड़कर नहीं रख सकते। पर आप सोचते हैं यह हमेशा हमारी रहेगी। ऐसे ज्ञान का नाम ही मोह है। जो वस्तु सदा रहनेवाली नहीं है उसे आप नित्य समझते हैं। जो वस्तु आपकी नहीं है उसे आप अपनी समझते हैं इसी का नाम है - मोह। जो वस्तु रह नहीं सकती उसे पकड़कर रखने का प्रयास करना। जैसे वानरी का बच्चा मर जाए तब भी उसे पकड़कर रखती है यह उसका मोह है।

*****

जिज्ञासा :- मन की जो ऊबने की आदत है, उसे कैसे छोड़े?

समाधान :- मन की ऊब जाने की जो आदत है यह बहुत अच्छी आदत है। इससे घबराने की बात नहीं है। यह आदत इसलिए अच्छी है कि यदि जगत् में लगा हुआ मन वहाँ से ऊबे नहीं तो फिर परमार्थ में कैसे जाएगा? ऊबेगा नहीं तो जगत् छूटेगा कैसे!

अब यदि कहो कि परमार्थ मार्ग से नहीं ऊबना चाहिए, तो यह बात ठीक है। व्यक्ति को लगे कि किसी स्थान के कारण उसे ऊब हो रही है तो कुछ दिन के लिए स्थान-परिवर्तन भी कर सकता है। ऐसी जगह रहे जहाँ का वातावरण शान्त हो, साधक लोगों से ही सम्पर्क रहे, फालतू बात करनेवाला कोई न दीखे। अपने प्रत्येक कर्म को परमार्थ से जोड़ने का अभ्यास करना चाहिए। भोजन बनाओ, चाहे पेड़ को पानी दो यही सोचो कि मैं भगवान् की सेवा कर रहा हूँ। प्रत्येक कार्य में मन्त्रव्याप्ति को बढ़ाओ, अपने प्रत्येक क्षण का सम्बन्ध परमार्थ से बनाओ। ऐसा अभ्यास करने पर धीरे-धीरे मन का ऊबना कम होता जाएगा और एक दिन बन्द हो जाएगा।

*****

जिज्ञासा :- सन्त कहते हैं किसी की निन्दा-स्तुति नहीं करनी चाहिए। निन्दा करना दोष है, यह तो समझ में आता है। स्तुति करने में क्या हानि है?

समाधान :- सन्त हमारे हितैषी हैं, जिन बातों को हम अपनी बुद्धि से नहीं जान सकते, उन्हें सन्त बताते हैं। वे कहते हैं कि साधक को निन्दा-स्तुति से दूर रहना चाहिए, इसलिए हमें इनसे दूर रहना चाहिए, इसी में हमारा हित है। अब जो शंका होती है कि स्तुति क्यों न करें! तो बताओ, क्या तुम सर्वज्ञ हो ? दूसरे के विषय में तुम पूरा जान नहीं सकते, फिर भी स्तुति कर देते हो। कई बार व्यक्ति सम्बन्ध बनाने के लिए दूसरे की स्तुति करता है। जो गुण उसमें नहीं हैं, उसका आरोप करके भी स्तुति करते हैं। कह देते हैं कि आप जैसा महात्मा आज तक कोई हुआ ही नहीं, यह तो झूठ बोलना ही हुआ जो कि बहुत बड़ा दोष है।

साधक को यह सोचना चाहिए कि स्तुति शरीर की होगी या आत्मा की! आत्मा की तो स्तुति हो नहीं सकती और जितने भी शरीर हैं सब मायिक हैं। मायिक वस्तुओं में गुण देखना, उन्हें महत्व देना कोई बुद्धिमानी तो नहीं है। आप कहो कि हम तो उसकी आत्मा की स्तुति कर रहे हैं। तब हम कहते हैं आत्मा और परमात्मा एक ही हैं, इसलिए परमात्मा की ही स्तुति करो। परमात्मा की स्तुति न करो ऐसा तो सन्त नहीं कहते, व्यक्ति की स्तुति का निषेध करते हैं। दूसरे के गुण-दोष क्यों देखना! जो दृष्टि तुम्हारे लिए शास्त्रविहित है वही करो। सबमें परमात्मदृष्टि करो। गुण-दोष दोनों मायिक हैं, इनका वर्णन साधक को नहीं करना चाहिए। शास्त्र भी कहता है-

अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्।।

(भागवतमाहात्म्य-४.८०)

एक बात यह भी है कि तुम यदि एक व्यक्ति की स्तुति करोगे तो किसी दूसरे की निन्दा का भाव अवश्य ही आएगा क्योंकि ये सापेक्ष भाव हैं। साधक को सोचना चाहिए कि जगत् में सब एक नाटक के समान दिखावा है, यहाँ सार कुछ भी नहीं है, फिर निन्दा-स्तुति किसकी करें!

*****

जिज्ञासा :- कृपया कोई ऐसी युक्ति बताइए जिससे अशान्त मन शान्त हो जाए।

समाधान :- जगत् के व्यवहार में मन अशान्त रहना स्वाभाविक है। जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष की हिलती हुई टहनी पर बैठकर चाहे कि मेरा शरीर स्थिर हो जाए या गन्दगीवाले स्थान पर बैठकर चाहे कि मेरा शरीर शुद्ध रहे तो ऐसा असम्भव है। इसी प्रकार अपने मैं को इस अशुद्ध शरीर के साथ जोड़कर कोई शुद्ध नहीं रह सकता है, यह मैं शुद्ध तभी रह सकता है जब किसी शुद्ध को पकड़कर व्यवहार करे। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि किसी विषयी व्यक्ति का स्मरण होता है तब मन में विकार मालूम होता है और किसी महात्मा का स्मरण होता है तो मन शुद्ध मालूम होता है। अतः मन अपने में शुद्ध-अशुद्ध अथवा शान्त-अशान्त नहीं है, जिसके साथ इसको सम्बन्धित करें उसी का गुण-दोष इसमें दिखाई देता है।

इसलिए मन को शान्त करने का सरल उपाय यही है कि शान्त वस्तु के साथ इसको जोड़ दीजिए। जैसे जब तक दृष्टि चलचित्र में रहती है तब तक उसमें चञ्चलता रहती है क्योंकि चलचित्र तो बदलता रहता है। पर यदि आपकी दृष्टि पर्देपर केन्द्रित हो जाए तो चित्र भले ही दौड़ते रहें आपका उनसे कोई सम्बन्ध ही नहीं बनेगा। वे आपकी दृष्टि को चञ्चल नहीं कर पाएँगे। इसी प्रकार शान्तरूप अपना स्वरूप जो परमात्मा है उसी को लक्ष्य करके व्यवहार करो तो आपके मन को कौन अशान्त कर सकता है!

*****

जिज्ञासा :- व्यक्ति में इच्छाएँ स्वतः उपजती हैं या उससे अनुमोदित होकर ?

समाधान :- इच्छाएँ संस्कारवश उत्पन्न होती हैं, उनका उत्पन्न होना व्यक्ति के बस में नहीं है। हाँ, वे आगे तभी बढ़ेंगी जब व्यक्ति उन्हें

अनुमोदित करेगा। जैसे राष्ट्रपति कुछ नहीं करता, मन्त्रिमण्डल ही किसी बिल को पास करता है, पर वह बिल राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बिना पास नहीं होता। ऐसे ही आपमें इच्छा उत्पन्न हो जाए कि मेरा हाथ ऊपर उठे, पर उस हाथ उठने में आपकी स्वीकृति न मिले तो वह नहीं उठेगा। किसी-न-किसी रूप में व्यक्ति इच्छा का अनुमोदन करता ही है चाहे वह जानकर हो या अनजाने। आगम-शास्त्र का भी यही सिद्धान्त है।

भगवान् ने भी गीता में काम को मारने के प्रसंग में कहा है –

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ... (३.४३)

तुम बुद्धि आदि से परे हो। अर्थात् तुम्हारा बल उनसे ज्यादा है, वे सब तुम्हारे लिए हैं तुम उनके लिए नहीं हो। अतः यह समझना चाहिए कि इच्छाएँ चाहे स्वतः उत्पन्न हों, फिर भी व्यक्ति अपने बल से उनको रोक सकता है।

*****

जिज्ञासा :- अहंकार भी मन, बुद्धि, चित्त के समान अन्तःकरण की एक वृत्ति है, फिर अहंकार को हेय क्यों मानते हैं?

समाधान :- अन्तःकरण की संकल्प-विकल्पात्मक वृत्ति को मन कहते हैं। निश्चयात्मिका वृत्ति को **बुद्धि** कहते हैं और विषय को प्रकाशित करनेवाली वृत्ति को **चित्त** कहते हैं। **अहं करोतीति - अहंकारः।** अहं करनेवाली वृत्ति को **अहंकार** कहते हैं। इस वृत्ति में एक दोष है कि यह व्यक्ति को समर्पित नहीं होने देती और परमार्थ के लिए सबसे बड़ा दोष यही है। बुद्धि अपने आप में शुद्ध है, जब तक उसका अहंकार से संयोग नहीं होता। अहंकार बुद्धि को समझाता रहता है –

अहंकारो धियं ब्रूते सुप्तं मा प्रतिबोधय।
उत्थिते परमानन्दे न त्वं नाऽहं न वै जगत्।।

हे बुद्धि! इस सोए हुए अधिष्ठान-स्वरूप को मत जगाओ। यदि वह परमानन्दस्वरूप जग गया तो न तुम रहोगी न मैं रहूँगा और न ही यह जगत् रहेगा। अहंकार से युक्त हुई बुद्धि विषय को समझने में कम लगती है और उसे काटने में ज्यादा लगती है। इसीलिए अहंकार को परमार्थ-मार्ग में बाधक और हेय माना जाता है।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्र में मन को जीतने के लिए बहुत बल दिया जाता है। पर मन के विषय में अर्जुन जैसा व्यक्ति कह रहा है -

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढ़म्।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।(गीता-६.३४)

फिर दूसरे व्यक्ति से क्या आशा की जाए कि वह मन को जीत लेगा?

समाधान :- अर्जुन ही नहीं, भगवान् कृष्ण भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मन-निग्रह करना कठिन है। परन्तु साथ-साथ यह भी कहते हैं -

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते (गीता-६.३५)

इसलिए कठिन का तात्पर्य यह नहीं है कि इसका निग्रह किया ही नहीं जा सकता। विचार करके देखो कि मन को बल कहाँ से मिल रहा है, उसको बल आपके अतिरिक्त तो कहीं से मिल नहीं रहा है। आप परीक्षण करके देखो, आपके मन में संकल्प हुआ कि मेरा हाथ ऊपर उठे और आपने नहीं उठाया, तो बलवान् आपका मन हुआ कि आप? बलवान् तो आप ही हुए।

देखिए, मन जो भी संकल्प करे, परन्तु आपकी स्वीकृति के बिना वह सफल नहीं हो सकता। पर क्या करें उस समय आप अपने को कमजोर समझकर मन के सामने समर्पण कर देते हैं। इसका मतलब हुआ कि मन आपसे बलवान् नहीं है, अपितु आपने अपने को कमजोर समझ लिया है।

जैसे कोई मालिक कहे कि क्या करें मेरा नौकर मेरी बात नहीं मानता। इसका मतलब नौकर बलवान् है यह तो नहीं हुआ, अपितु मालिक ने अपने

को कमजोर मान लिया। उसने अपनी महिमा को नहीं पहचाना। बस, यही कहानी आजकल मन के बस में हुए लोगों की है।

एक बार जयपुर के राजा की किसी फैक्ट्री का अंग्रेज मैनेजर जब फैक्ट्री में आनेवाला था तो नौकरों में चर्चा होने लगी कि साहब आ रहे हैं। यह बात राजा के पुत्र ने सुनी तो राजा को जाकर बोला, 'पिताजी, आज फैक्ट्री में साहब आ रहे हैं।' तब राजा बोला, 'बेटा, जिसको तुम साहब बोल रहे हो, वह तो तुम्हारा नौकर है।' देखिए, बालक अपनी महिमा को नहीं जान रहा है, इसलिए नौकर को साहब बोल रहा है। इसी प्रकार आपने अपने नौकर मन को साहब समझकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली है, आप अपनी महिमा को पहचानो तो मन आपके अधीन हो जाएगा। आप ये विचार क्यों नहीं करते कि संसार के भोग हमारे लिए हैं, हम उनके लिए नहीं हैं। इसलिए वे हमको कैसे आकर्षित कर सकते हैं! इस प्रकार विचार करो तो मन आपसे बलवान नहीं हो सकेगा।

*****

जिज्ञासा :- गीता में अर्जुन ने कहा है - **बलादिव नियोजितः।** यदि मन हमसे बलवान् नहीं होता तो ऐसा क्यों कहा कि बलात् विषयों में खींच लेता है?

समाधान :- गीता में जो प्रयोग किया है - **बलाद् इव** उसका तात्पर्य यही है कि ऐसा लगता है मानो मन हमें बल से खींच लेता है। इसका मतलब वास्तव में वह बल से नहीं खींचता, बल्कि हम स्वयं ही उसके साथ चले जाते हैं। हमने मन को जगत् में फेंक रखा है, उसपर नियन्त्रण नहीं रखते। इसीलिए ऐसा होता है।

कई बार माता-पिता के न चाहते हुए भी बालक हठ करके कोई कार्य उनसे करवा लेता है, तो उसका तात्पर्य यह नहीं हुआ कि माता-पिता से

बालक बलवान् है। वे मोहवश उस बालक की बात मान लेते हैं। ऐसा ही यहाँ भी समझना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- मन को जितना समझाएँ उतना ही वह ज्यादा चञ्चल होता है। कृपया इस विषय में कुछ सुझाव दीजिए।

समाधान :- यदि मन समझाने पर भी नहीं समझता है तो उसकी उपेक्षा कर दो। वह जो चिन्तन करे, करता रहे आप मात्र देखते रहो। उसमें बहो मत, तो वह धीरे-धीरे कमजोर होकर स्थिर हो जाएगा। समस्या बस यही है कि मन का हम स्वयं ही समर्थन कर देते हैं तो उसका बल बढ़ा हुआ-सा लगता है।

*****

जिज्ञासा :- कोई संकल्प करने के पश्चात् किसी कारणवश वह टूट जाए तो क्या प्रायश्चित्त करना चाहिए?

समाधान :- प्रथम तो उस व्यक्ति को अन्दर से खेद होना चाहिए कि क्या करें, मुझे संकल्प नहीं तोड़ना चाहिए था, पर मैं कमजोर पड़ गया। अब पुनः दृढ़निश्चय होकर उस संकल्प को पूर्ण करें। पर एक बात ध्यान रखें, यह शुभ संकल्प के लिए समझना चाहिए। यदि कोई संकल्प किसी का अनिष्ट करनेवाला हो तो उसके लिए पुनः प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि वह पूर्ण नहीं हुआ तो भगवान् की कृपा ही समझनी चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- किसी के द्वारा कोई अपराध हो जाए तो उसे क्या प्रायश्चित्त करना चाहिए?

समाधान :- प्रथम तो यह विचार करना पड़ेगा कि अपराध किस कोटि का है। कुछ अपराध तो जघन्य होते हैं, उनका प्रायश्चित्त विशेष रूप से

किसी विद्वान् के द्वारा जानकर करना चाहिए। पर सामान्य रूप से व्यवहार में कुछ छोटे-बड़े अपराध होते रहते हैं, उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

१) शरीर के द्वारा होनेवाला अपराध

२) वाणी के द्वारा होनेवाला अपराध तथा

३) मन के द्वारा होनेवाला अपराध।

शरीर के द्वारा अपराध हो जाए तो उपवास रखना चाहिए। इस प्रकार एक दिन, दो दिन अथवा इससे भी अधिक उपवास रखकर शरीर को दण्डित करना चाहिए। वाणी के द्वारा कोई अपराध हो जाए तो मौन रहकर दस हजार, एक लाख या इससे भी अधिक की संख्या में जप करे। मन के द्वारा यदि कोई अपराध हो जाए तो एक स्थान पर बैठकर प्राणायाम करे क्योंकि मन प्राण से सम्बन्ध रखता है। मन तो आपके वश में है नहीं, इसलिए प्राणायाम के द्वारा ही मन को दण्डित किया जा सकता है। इस प्रकार यदि कोई साधक प्रायश्चित्त करता है तो धीरे-धीरे उसकी अपराध करने की वह आदत शिथिल होती जाएगी।

* * * * *

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।

(मुण्डकोपनिषद्)

जिज्ञासा :- जाति (वर्ण) व्यवस्था जन्मना ही क्यों मानी जाती है? इसे कर्म से क्यों नहीं मान सकते?

समाधान :- आज के समाज में एक व्य१८०क्ति सबेरे ब्राह्मण जैसा दीखता है, दोपहर में वैश्य दीखने लगता है तो शाम को शूद्र जैसा। यदि कर्म से जाति मानो तो दिनभर में दो-तीन बार उसकी जाति बदलनी पड़ेगी। इसलिए व्यवहार में जाति-व्यवस्था को जन्मना ही मानना पड़ेगा। श्राद्ध में ब्राह्मण भोजन का विधान है, अब आप किसे ब्राह्मण बनाकर लाओगे। उसे ब्राह्मण होने का सर्टिफिकेट कौन देगा, क्या वह सभी को मान्य होगा और वह कितने दिन चलेगा? किसी वजह से उसके कर्म बदल गए तो उसकी जाति भी बदलनी पड़ेगी।

यदि कहो कि ब्राह्मणों ने अपना धर्म छोड़ दिया है तो उसका सम्बन्ध उनसे है, तुम खिलाओगे तो उसका सम्बन्ध तुमसे है। कोई कहे कि श्राद्ध में गरीबों को भोजन करा देंगे तो उसका निषेध नहीं है, पर शास्त्रीय-श्राद्धविधि में तो ब्राह्मण भोजन लिखा है, उसके बिना श्राद्ध पूर्ण नहीं होगा। कर्मणा जाति मानने पर व्यवस्था नहीं बनती, इसलिए जन्मना जाति माननी ही पड़ती है।

*****

जिज्ञासा :- आज की परिस्थितियों में व्यक्ति जाति (वर्ण) व्यवस्था का पालन किस प्रकार करे?

समाधान :- व्यक्ति जिस वर्ण में है उसे उसके धर्मों का यथाशक्ति पालन करना चाहिए। यह पालन शास्त्रानुसार हो, तुम्हारे मन के अनुसार नहीं। शास्त्र पर श्रद्धा रखकर उसके अनुसार अपना जीवन बिताओ।

शास्त्रानुसार चलोगे तो तुम्हारी मनमानी या चालाकी नहीं चलेगी, तब तुम्हारा जीवन नियमित हो जाएगा। परिस्थितियों पर या समाज पर तुम्हारा नियन्त्रण नहीं है, तुम अपने जीवन का निर्माण कर सको तो समझना कि तुमने समाज का बहुत बड़ा निर्माण कर लिया क्योंकि व्यक्ति-निर्माण ही समाज का निर्माण है। साथ ही अपने कर्मों को ईश्वर से जोड़ो, सोचो कि अपने कर्मों द्वारा मैं ईश्वर की उपासना कर रहा हूँ। थोड़े ही दिनों में तुम अपने अन्दर एक शक्ति का अनुभव करोगे। वह शक्ति वर्ण-व्यवस्था के अनुसार चलने में सहायक होगी।

*****

जिज्ञासा :- बृहदारण्यक उपनिषद् के सप्तान्न-प्रकरण में कहा गया है कि दूध पशु-अन्न है, उसपर मुख्यरूप से बच्चे का अधिकार है, तब क्या अन्य लोगों को दूध नहीं पीना चाहिए?

समाधान :- देखो! माता के स्तन में जो दूध बनता है वह बच्चे के लिए ही बनता है। भगवान् ने दूध बच्चे के लिए ही बनाया है। जब बच्चा पैदा होनेवाला होता है तभी गाय-भैंस के स्तन में दूध आता है उससे पहले नहीं। साथ ही उसके स्तन में इतना ही दूध आएगा जिससे बच्चे का पोषण हो सके, उससे अधिक नहीं आएगा। बच्चे के भाग का दूध हमें लेने का अधिकार नहीं। हम लोग गाय-भैंस को विशेष खुराक देते हैं इसलिए दूध अधिक आता है, तो बचे हुए दूध को हम ले सकते हैं। बच्चा बड़ा होने पर चारा भी खाता है तो उसकी दूध की आवश्यकता कम हो जाती है। अब बचे हुए दूध को हम नियमित रूप से ले सकते हैं।

इस दूध पर भी प्रथम अधिकार देवताओं का है। गृहस्थ के लिए प्रतिदिन अग्निहोत्र करने का शास्त्रीय विधान है, साथ ही यज्ञादि करने का भी विधान है। इसके लिए घी की जरूरत होती है। यज्ञ में आहुति देने के लिए दूध और दही की भी आवश्यकता होती है। दही को मथकर जो घी निकालते हैं

उससे यज्ञादि में आहुतियाँ दी जाती हैं। देवताओं के पूजन में दीपक और आरती के लिए घी आवश्यक है। भगवान् के भोग में भी घी होना जरूरी है। इस प्रकार घी पर मुख्य अधिकार देवताओं का हो जाता है।

भगवान् को जो भोग लगता है, वह प्रसाद है उसे आप मिल-बाँटकर खा सकते हैं। घी बनाने की प्रक्रिया में जो मट्ठा बचता है उसपर मनुष्य का अधिकार होता है। पुराने जमाने का मट्ठा इतना स्वादिष्ट होता था कि दूध भी उसके आगे फीका लगे, साथ ही उससे पर्याप्त पोषण भी मिल जाता था। हमने स्वयं बचपन में देखा है कि लोग दूध न पीकर मट्ठा ही पीया करते थे।

*****

जिज्ञासा :- आज के युग में नारी अपने धर्म का पालन कैसे करे?

समाधान :- पहले तो इस बात को समझ कर रखें कि प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य है - **परमात्मप्राप्ति।** इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे समझना चाहिए कि हमको ईश्वर की ओर से यह पार्ट मिला है, हमें इसे भगवान् की सेवा मानकर निभाना है। इस पार्ट में जो कर्तव्य है उसे जानकर अच्छी तरह पूरा करना चाहिए। उसे जगत् के सुखों की इच्छा न करके त्यागमय जीवन बिताना चाहिए। इसी प्रकार स्त्री के लिए शास्त्र में कुछ कर्तव्य निर्धारित किए हैं। वह उन कर्तव्यों का पालन करती हुई पति, सास-ससुर सबकी सेवा करे और किसी से कुछ इच्छा न करे। ऐसा ही समझे कि भगवान् ने तपस्या करने के लिए यह शरीर दिया है।

*****

जिज्ञासा :- मरणोपरान्त ब्रह्मचारी के शरीर का दाह-संस्कार करना चाहिए अथवा नदी में प्रवाहित कर देना चाहिए?

समाधान :- ब्रह्मचारी शिखा-यज्ञोपवीत रखता है इसलिए उसका

और्ध्वदैहिक अर्थात् मरणोपरान्त होनेवाला कर्मकाण्ड आवश्यक है, अतः उसके शरीर को जलाना ही चाहिए। अग्निदाह भी एक वैदिक संस्कार है, इसलिए जो भी शिखा-यज्ञोपवीतधारी है उसका वह संस्कार करना आवश्यक है। जिन लोगों के शिखा-सूत्र नहीं हैं जैसे छोटा बालक या भील आदि तो उन्हें भूमि में गाड़ा जाता है। संन्यासी को भी जल में या भूमि में समाधि दी जाती है।

*****

जिज्ञासा :- कलियुग में वानप्रस्थ-आश्रम के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?

समाधान :- हमारी दृष्टि में तो वानप्रस्थ आश्रम कलियुग में बहुत आवश्यक है। परमार्थ की दृष्टि से ही नहीं, व्यवहार की दृष्टि से भी इसकी बहुत आवश्यकता है। आजकल इसका महत्व न समझने के कारण प्रत्येक घर में अशान्ति रहती है। माता-पिता का अनुभव बहुत वर्षों का होता है, उतना अनुभव बेटे-बहू का तो होता नहीं। दूसरी बात यह है कि बेटा और बहू ने जिस वातावरण में रहकर पढ़ाई की है, उस वातावरण में माता-पिता कभी रहे नहीं। इसलिए उनकी समस्याओं को माता-पिता समझ नहीं पाते। प्रत्येक व्यवहार में माँ को लगता है कि बहू घर को बर्बाद कर देगी और पिता को लगता है कि लड़का बर्बाद कर देगा। इसलिए वे लोग टोके बिना रह नहीं पाते। पुत्र और बहू भी अधिक दिन सहन नहीं कर पाते, इसलिए घरों में संघर्ष का माहौल बना रहता है।

पुत्र और बहू में श्रद्धा अधिक हो तो भले ही तुम्हारी बात मान लें अन्यथा समस्या बनी रहती है। शास्त्र में वानप्रस्थ का विधान इसी दृष्टि से है कि माँ-बाप सोचें कि हमने सन्तानों का विवाह कर दिया, उनको काम में भी लगा दिया, अब हमारा घर में थोड़ी देर भी रहना आवश्यक नहीं है।

भजन करना ही हमारा एकमात्र कर्तव्य शेष है। जिस कार्य के लिए मनुष्य शरीर मिला है वही काम बच गया है। लड़के-बहू का जैसा प्रारब्ध होगा वे घर को चलाएँगे, उसमें हम क्यों हस्तक्षेप करें!

आज के माहौल में यदि जंगल में जाकर बैठना कठिन मालूम पड़ता है तो घर में ही रहकर भजन में लग जाए, टोका-टोकी छोड़ दे तो लड़के-बहू को श्रद्धा हो जाएगी। यदि माता-पिता घर से जाकर कहीं तीर्थ में रहने लग जाएँ तब बेटा-बहू को माता-पिता का महत्व समझ में आ जाएगा। उन्हें उनके प्रति बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हो जाएगी, तो वे स्वतः उनकी सेवा भी करेंगे। माँ-बाप की सेवा करने से उनका कल्याण होगा। **अपने कल्याण के लिए, बेटा-बहू के कल्याण के लिए और व्यावहारिक समस्या के समाधान के लिए इन तीनों दृष्टियों से आज वानप्रस्थ आश्रम की बहुत आवश्यकता है।**

*****

जिज्ञासा :- सुनते हैं कि धर्म का रहस्य बहुत सूक्ष्म होता है, इसे कैसे समझा जाए?

समाधान :- वाल्मीकि रामायण में ऐसी कथा आती है कि जब रामजी ने बालि को बाण मारा और वह घायल हो गया, तब मरने से पहले उसने धर्म को लेकर रामजी को बहुत उलाहनाएँ दीं। रामजी सामने आए तो वह बोला, 'तुम धर्म का बाना पहने हो, पर तुम्हारा जीवन अधर्मपूर्ण है। मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया था जिसके लिए तुमने मुझे मारा। तुम लड़ना ही चाहते थे तो मेरे सामने आकर ललकारना चाहिए था, कायर की तरह छिपकर क्यों मारा? तुम वीर हो या कायर?'

तब रामजी ने उत्तर दिया, 'तू धर्म की बात तो बहुत करता है पर तूने महापुरुषों की सेवा नहीं की, इसलिए तू धर्म के रहस्य को समझ नहीं सकता। **जिसने महापुरुषों की सेवा नहीं की वह केवल शास्त्रों को पढ़कर धर्म का रहस्य नहीं समझ सकता।**' दूसरी बात रामजी ने कही, 'मेरा हृदय

बिल्कुल नहीं कह रहा कि मैंने कोई अन्याय किया है। जिस प्रकार मुझे ऋषियों ने कहा था, उसी प्रकार सुग्रीव मुझे मिला। मैंने उसे मित्र मानकर उसे अन्याय से बचाने की जो प्रतिज्ञा की थी उसी का आज मैंने पालन किया है। मेरा हृदय साक्षी है कि मैंने अन्याय नहीं किया है।'

देखो, व्यक्ति अन्याय करके चाहे जितना भी छिपा ले पर अन्दर से उसका हृदय काँप उठता है, उसके जीवन में भय रहता है। यहाँ रामजी कहते हैं कि मेरे हृदय में कहीं भी कम्पन या भय नहीं मालूम होता, बल्कि प्रसन्नता है। यही प्रमाण है कि मैंने गलत कार्य नहीं किया। इस प्रकार धर्म की दो परीक्षा बताईं। धर्म का एक बाह्य स्वरूप है जो उसका ढाँचा है और एक अन्तःस्वरूप है जो उसका प्राण है। इस अन्तःस्वरूप का ज्ञान परम्परा से, महापुरुषों की सेवा से ही प्राप्त होता है, बुद्धिवाद से नहीं।

*****

जिज्ञासा :- कुछ लोग यज्ञोपवीत एक न पहनकर उसका जोड़ा पहनते हैं। क्या यह शास्त्रीय विधान है?

समाधान :- यह विधान गृहस्थ के लिए समझना चाहिए। ऐसा माना जाता है कि एक यज्ञोपवीत अपने लिए पहना जाता है और एक पत्नी के लिए। ब्रह्मचारी को तो सन्ध्योपासना में एक ही यज्ञोपवीत पहनना चाहिए। कहीं-कहीं गृहस्थ के लिए तीन यज्ञोपवीत पहनने का विधान भी हमें मिला है। वह इसलिए है कि उत्तरीय वस्त्र पहनना सन्ध्या, पूजा आदि कार्यों में अनिवार्य है, केवल धोती पहनकर ये कार्य नहीं करना चाहिए। यदि उत्तरीय कभी न पहन पाए तो उस दोष की निवृत्ति तीसरे यज्ञोपवीत से हो जाती है।

*****

जिज्ञासा :- हिंसा और अहिंसा को कैसे समझें? आजकल कहीं-कहीं अपराधियों को फाँसी देना हिंसा मानकर बन्द किया जा रहा है। क्या यह उचित है?

समाधान :- अहिंसा और हिंसा ये मन की वृत्तिविशेष हैं केवल बाह्य क्रिया नहीं। आपके मन में द्वेष के कारण अथवा किसी वस्तु के राग के कारण किसी को मारने की इच्छा हुई और आपने उसे मार दिया तो यह हिंसा हो गई। पर यदि आपके अन्दर ऐसी वृत्ति नहीं है तो मारने पर भी हिंसा नहीं होगी। इसलिए एक चोर किसी को चाकू से घायल करता है तो वह हिंसा मानी जाती है, उसे दण्ड मिलता है। परन्तु एक सैनिक देश-रक्षा के लिए पचास लोगों को मार देता है तो उसे महावीर चक्र मिल जाता है। उसने हिंसा की, ऐसा कोई नहीं कहता। ऐसा इसलिए क्योंकि उसकी वृत्ति देश-रक्षारूपी अपने कर्तव्य के पालन की है, राग-द्वेषपूर्वक किसी को मारने की नहीं। इसीलिए चित्तौड़ का जौहर हमारे लिए आत्मसम्मान का विषय है क्योंकि उन स्त्रियों की दृष्टि आत्महत्या नहीं है, अपने अस्तित्व तथा चरित्र की रक्षा की दृष्टि है।

एक मच्छर को भी जानबूझकर यदि मारो तो हिंसा का पाप लगेगा ही, वह काटता है तो तुम्हारे अन्दर हिंसा वृत्ति क्यों आई? मच्छर के अन्दर हिंसा वृत्ति आई या नहीं पर तुम्हारे अन्दर तो आ ही गई। हिंसा और अहिंसा मन की वृत्तियाँ हैं, बाह्य आचरण नहीं, इस बात पर ध्यान न देने के कारण बौद्धों, जैनियों आदि को ढोंग ही करना पड़ता है। बौद्ध लोग माँस भी खा सकते हैं, साथ ही अपने को अहिंसक भी बोलते हैं। जैन समुदाय में साधु स्नान नहीं करते, वे कहते हैं शरीर में रहनेवाले जीव मर जाएँगे। अरे! मरनेवाला मर रहा है, जीनेवाला जी रहा है, सब उनके प्रारब्ध से हो रहा है। तुम्हारे अन्दर किसी को मारने का संकल्प नहीं हुआ तो हिंसा कैसे होगी!

सनातन धर्म में हिंसा-अहिंसा का विचार बहुत गम्भीर है। यहाँ किसी को स्वार्थपूर्वक कष्ट देने पर भी हिंसा हो जाती है और धर्मपूर्वक लड़ाई करके कई लोगों को मारकर भी हिंसा नहीं होती। यदि कोई आततायी सैकड़ों लोगों को त्रास दे रहा है, तुम उसका गला काट लो तो तुम्हें हिंसा नहीं लगेगी।

तुम्हारी दृष्टि लोगों की रक्षा में है, हिंसा में नहीं। अपराधियों को फाँसी देना कोई हिंसा नहीं है, वह तो समाज की रक्षा के लिए आवश्यक है। ऐसा व्यक्ति जीवित रहेगा तो कितने ही लोगों को त्रास देगा और स्वयं भी अपना पाप बढ़ाएगा।

*****

जिज्ञासा :- गाय को जूठा खिलाना ठीक है अथवा नहीं ?

समाधान :- इस विषय में व्यक्ति की दृष्टि क्या है, इस पर विचार करना पड़ेगा। शास्त्र कहता है कि गाय के शरीर में तैंतीस कोटि देवताओं का निवास है। इसे मानकर यदि व्यक्ति गाय को देवतारूप से देखता है तो वह उसे जूठा अन्न खिलाने की सोचेगा ही नहीं। वह तो उसकी पूजा करेगा और शुद्ध वस्तु उसे अर्पित करेगा।

दूसरा व्यक्ति ऐसा भी होता है जो गाय को सामान्य पशु की दृष्टि से देखता है, वह सोचता है कि बचे अन्न को फेंके क्यों। गाय पशु है, इसे खाने से उसे सुख मिलेगा, उसका पोषण होगा। उसे नहीं खिलाएँगे तो वह अन्न व्यर्थ ही जाएगा। इसलिए कर्म में व्यक्ति की दृष्टि क्या है, यह विचार जरूर करना चाहिए क्योंकि दृष्टि के अनुसार ही फल होता है। इसलिए गाय को सुख देने की दृष्टि से कोई जूठा खिलाता भी है तो विशेष दोष का भागी नहीं होगा। परन्तु यदि आप शास्त्रीय व्यक्ति हैं, गाय को देवता मानते हैं तब तो उसे जूठा खिलाने से दोष लग ही जाएगा।

*****

जिज्ञासा :- मैं ब्राह्मण हूँ और मेरी उम्र भी अधिक हो गई है। क्या ब्राह्मण होने के कारण मेरे लिए संन्यास लेना अनिवार्य है ?

समाधान :- शास्त्र के अनुसार ब्राह्मण को तो संन्यास आश्रम स्वीकार करना ही चाहिए। ब्राह्मण के लिए क्रम से चारों आश्रमों को स्वीकार करना अनिवार्य है। पुराने जमाने में तो प्रायः ब्राह्मण लोग ऐसा करते भी थे।

पर आपको व्यावहारिक दृष्टि से भी विचार करना चाहिए। वृद्धावस्था है, शरीर में दुर्बलता है तो घर छोड़कर कैसे रहेंगे, यह विचार आपको करना पड़ेगा। यदि प्रभु पर पूर्ण भरोसा है तो कहीं भी रह सकते हैं। इसलिए अपने मन की स्थिति को देखना चाहिए कि हममें कितना बल है! जिनसे संन्यास लेना हो, उनसे इस इस विषय में परामर्श लेना चाहिए। शास्त्र के अनुसार तो ब्राह्मण अन्तिम वय में संन्यास ग्रहण ले, यही श्रेष्ठ है।

*****

"देवो भूत्वा देवान् यजेत"

देवभावापन्न होकर ही देवताओं का पूजन करना चाहिए।

जिज्ञासा :- घर में हम अपने इष्टदेव की मूर्ति की नित्य सेवा-पूजा करते हैं, पर कभी बाहर गाँव जाते हैं तो इष्टदेव को घर में छोड़ देते हैं। क्या ऐसी परिस्थिति में हम मानसपूजन से काम चला सकते हैं?

समाधान :- अब बताओ भारी पेटी, बिस्तर आदि सब सामान तो साथ में ले जाते हो और इष्टदेव तुम्हें भारी पड़ जाते हैं! यदि इष्टदेव का नियमित पूजन करते हो तो उन्हें साथ ले ही जाना चाहिए। यदि इष्टदेव को भोग लगाते हो तब तो जरूर ही ले जाना पड़ेगा अन्यथा वे खाएँगे क्या! हमारा रोज का पूजन तो हमारा जीवन है, इष्टदेव का पूजन किए बिना हम भोजन कैसे कर सकते हैं! यदि तुम्हारे घर के मन्दिर में स्थापित मूर्ति है उसको तो नहीं ले जा सकते, पर यदि छोटी चल-मूर्ति है तो उसे ले जाना चाहिए।

मूर्ति की मानसपूजा नहीं होती। मानसपूजन करना है तो मूर्ति मत रखो। यदि इष्टदेव की नियमित पूजा-अर्चा करते हो तो मानसपूजन से काम नहीं चलेगा। मूर्ति को मानसभोग लगाते हो, स्वयं भी मानस भोजन से काम चला सकते हो क्या! यदि देवता को मन से खिला देते हो तो तुम भी मन से खा लिया करो। यदि तुम्हारा मानस भोजन से काम नहीं चल सकता तो इष्टदेव की मूर्ति को साथ में रखकर पूजन करना ही चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- किसी स्तोत्र की फलश्रुति में लिखा है कि इसके पाठ से सर्वप्रयोजनसिद्धि हो जाएगी। क्या स्तोत्रपाठ से यह सम्भव है?

समाधान :- यदि जीवन में कोई प्रयोजन सिद्धि की कामना ही न रहे तो सर्वप्रयोजनसिद्धि प्राप्त हो गई क्योंकि इच्छाओं का तो अन्त नहीं है,

उनको तो पूरा कोई कर ही नहीं सकता। आज एक इच्छा पूरी होती है तो दो नई इच्छाएँ उत्पन्न हो जांती हैं। विश्व की सारी सामग्री आपको दे दी जाए तब भी आपका प्रयोजन पूरा हो जाएगा यह नहीं कहा जा सकता। कहीं वस्तु का अभाव है और कहीं वस्तु है तो उसके भोग की सामर्थ्य नहीं है। मन में कोई इच्छा ही न रहे तो सर्वप्रयोजन सिद्ध हो जाएगा।

इसी दृष्टि से तैत्तिरीय उपनिषद् की आनन्द-मीमांसा में बताया कि जो व्यक्ति शास्त्रों का ज्ञाता है, शास्त्र के अनुसार ही जीवन बिताता है और ब्रह्मलोकपर्यन्त की कोई भी इच्छा नहीं करता, उसे ब्रह्मलोक तक का आनन्द स्वतः प्राप्त हो जाता है।

स्तोत्र की जो फलश्रुति है उसका तात्पर्य यही है कि आपका उस समय जो प्रयोजन है वह सिद्ध हो जाएगा पर आपको अन्य इच्छाएँ नहीं होंगी - यह उसमें कहाँ लिखा है!

*****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में बिना दीक्षा लिए माँ ललिता के मन्त्र का जप करना निषेध किया गया है। क्या मन्त्र-दीक्षा के बिना उनके सहस्रनाम का पाठ भी नहीं कर सकते?

समाधान :- ललितासहस्रनाम का पाठ करने की बहुत जगह खासकर दक्षिण भारत में परम्परा है, वे लोग बिना मन्त्र-दीक्षा के भी सहस्रनाम का पाठ करते हैं। परन्तु आगम शास्त्र के जानकारों का कहना है कि बिना दीक्षा के इसका पाठ नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि इस सहस्रनाम के जो न्यास होते हैं, वे मन्त्रन्यास होते हैं और मन्त्र तो बिना दीक्षा के मिलता नहीं है। विष्णुसहस्रनाम आदि में इस प्रकार के मन्त्रन्यास नहीं है, इसलिए उनका पाठ बिना दीक्षा के भी हो सकता है।

बहुत-सी जगह लोग ललितासहस्रनाम का पाठ करते हैं, पर उसके

न्यास नहीं करते। श्रद्धापूर्वक पाठ करने का जो फल है वह तो उन्हें मिलेगा, परन्तु न्याससहित विधिपूर्वक पाठ का जो फल है, वह उन्हें प्राप्त नहीं होगा। यह सहस्रनाम पौराणिक है, इसलिए पाठ में अधिकार तो सबका हो सकता है, परन्तु मन्त्रन्यास होने के कारण विद्वान् लोग बिना दीक्षा के इसके पाठ के लिए मना करते हैं। आप चाहे मन्त्र का जाप करो, चाहे कोई भी स्तोत्र पाठ करो, दीक्षा लेकर ही करना चाहिए क्योंकि गुरु-सम्बन्ध के बिना केवल अपने मन से कोई भी आध्यात्मिक साधना हो ही नहीं सकती।

*****

जिज्ञासा :- भगवन्! शिवमन्दिर में पूजा के बाद एक विशेष प्रकार की अगड़म्-बगड़म् अथवा बम्-बम् की ध्वनि कुछ लोग करते हैं - इसका क्या प्रयोजन है?

समाधान :- प्रजापति दक्ष बड़ा अभिमानी था। उसने शिवजी को नीचा दिखाने के लिए बड़े भारी यज्ञ का आयोजन किया था। **क्रियादक्षो दक्षः** -यज्ञादि क्रियाओं में वह बड़ा कुशल था। किसी वस्तु की वहाँ कमी नहीं थी, देवता लोग स्वयं उस यज्ञ में उपस्थित थे। मन्त्रों में अशुद्धि होने से यज्ञ बिगड़ जाता है, परन्तु वहाँ तो यह सम्भावना भी नहीं थी क्योंकि बड़े-बड़े ऋषिगण यज्ञ के पुरोहित थे।

ऐसा होने पर भी उसका यज्ञ नष्ट हो गया क्योंकि अहंकारवश उसने सबके आत्मस्वरूप त्रिलोकीनाथ शिव का ही अपमान कर दिया था। इस अपराध के कारण वीरभद्र ने दक्ष का सिर काट दिया, बाद में शिवजी ने दया करके उसे बकरे का सिर लगवाकर जीवित किया। बकरा **ब.ब.ब.** ध्वनि करता है। दक्ष ने भी बकरे के मुख से ऐसी ही ध्वनि की, तो महादेव उसपर प्रसन्न हो गए और कहा, 'आज से कोई इस प्रकार मेरे सामने स्तुति करेगा उसपर भी मैं प्रसन्न हो जाऊँगा।' साथ ही शिवमन्दिर में इस प्रकार

की ध्वनि उसी घटना की याद में की जाती है जिससे हमें याद रहे कि अहंकार कभी नहीं करना चाहिए। यदि दक्ष के समान अहंकार किया तो बकरा ही बनना पड़ेगा।

*****

जिज्ञासा :- श्रावण-मास में शिवजी के पूजन और अभिषेक का इतना महत्व क्यों कहा जाता है?

समाधान :- शास्त्रों में कहा गया है — **जलधाराप्रियः शिवः**, शिवजी को जलधारा, जलाभिषेक अत्यन्त प्रिय है। पृथ्वी, वायु आदि अष्टमूर्तियाँ भी शिवजी का ही रूप हैं। श्रावण-मास में वर्षा ऋतु होने से चारों ओर जलधारा गिरती रहती है, पृथ्वी, वायु, आकाश सभी ओर जल रहता है। सूर्य-चन्द्र का तेज भी शान्त हो जाता है। ये सब शिव के रूप ही हैं। प्रकृति स्वयं इन सबका जलधारा से अभिषेक करती है। इसीलिए प्रकृति के अनुरूप ही भक्तलोग भी शिवजी का अभिषेक, पूजन आदि इस महीने में विशेषरूप से करते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि जिस मास में पूर्णमासी के दिन श्रवण नक्षत्र हो, वही श्रावण मास होता है। श्रवण नक्षत्र शिवजी को विशेषरूप से प्रिय है और उसके सम्बन्ध से श्रावण-मास भी उन्हें प्रिय है। इस कारण से भी इस मास में शिवपूजन का विशेष महत्व है।

*****

जिज्ञासा :- गाय को प्रतिदिन जो ग्रास देना पड़ता है, वह कितना हो और किस विधि से दिया जाए?

समाधान :- आप जो भोजन करते हैं उसमें से एक रोटी गाय के लिए निकालना चाहिए। गाय का ग्रास कम-से-कम एक रोटी का होता है, इसीलिए इसे गोग्रास कहा जाता है। वह रोटी बहुत पतली भी नहीं होनी चाहिए। गाय को देवता मानकर ग्रास देना चाहिए, गाय में तैंतीस कोटि देवताओं का निवास होता है उसे पूज्यभाव से प्रणाम करके ग्रास देना चाहिए और देने के बाद उसकी परिक्रमा करनी चाहिए।

जिज्ञासा :- हम भगवान् की पूजा करते हैं, भोग लगाते हैं, आरती भी करते हैं पर मन में जैसा भाव आना चाहिए वह नहीं आता। यह भाव कैसे आए?

समाधान :- शास्त्र में पूजा के समय जैसी भावना करने के लिए कहा है, प्रयत्नपूर्वक वैसी भावना करना साधना है। आप साधक हैं इसलिए भाव बनाना आपके लिए प्रयत्नसाध्य ही होगा। जो सिद्ध है, जिसमें भगवान् के प्रति प्रेमाभक्ति उदय हो गई है उसके लिए यह भाव सहज होता है। यदि आप भाव को महत्व देंगे, उसे लाने का पूर्ण प्रयास करेंगे तो धीरे-धीरे वह जरूर आएगा। यदि आप उसकी उपेक्षा कर देंगे तो मन चञ्चल है ही वह पूजा के समय इधर-उधर भाग जाएगा। गीता में भी कहा है-

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।। (६.३३)

मन को स्थिर रखना है तो अभ्यास करो और वैराग्य करो। पूजा की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु में आपका राग अधिक होगा, इसलिए मन वहाँ जाता है और पूजा में भाव नहीं बनता। उस वस्तु में दोषदर्शन करके उससे वैराग्य करो। भाव बनाने के लिए एक दूरवर्ती साधन तो यह भी है कि आपके आहार, व्यवहार और विचार सब पवित्र हों, शास्त्रीय हों। तब आपके मन में शुद्धि आएगी जिससे विक्षेप कम होगा और पूजा में आनन्द आने लगेगा। साथ ही आपको जीवन में सरलता और निष्कपटता लाने का प्रयास करना पड़ेगा। आप जितने सरल होंगे उतना ही जल्दी आपका भाव भगवान् को पकड़ेगा।

एक बात यह भी है कि पूजा आदि सब तो आप करते हैं, पर चलते-फिरते भगवान् का ध्यान नहीं करते, उस समय तो जगत् का ध्यान होता है। मूर्ति का भगवान् जब तक तुम्हारे मन के अन्दर चेतन बनकर प्रकट नहीं होगा तब तक काम बननेवाला नहीं है। मूर्ति का भगवान् तुम्हारे मन में आ जाएगा तो

वह चेतन हो जाएगा। तुम्हें घर का काम करते समय उसका स्मरण बना रहे तो पूजा के समय भी उसका ध्यान रहेगा। **इसलिए चलते-फिरते जगत् के ध्यान की आदत छोड़कर भगवान् के ध्यान की आदत डालो तो भाव बनेगा।**

*****

जिज्ञासा :- घर की छत पर शिवलिङ्ग की स्थापना करनी है, क्या उसके साथ शिव-परिवार की भी स्थापना हो सकती है?

समाधान :- मन्दिर में यदि शिवलिङ्ग की स्थापना होती है तो शिव-परिवार की स्थापना भी होती है, पर किसी के घर में यदि स्थापना करना है तो वहाँ शिव-परिवार की स्थापना नहीं होती। वैसे घर की छत पर तो शिवलिङ्ग की भी स्थापना नहीं होती है। चलमूर्ति की पूजा हो सकती है, पर स्थापना के लिए उसका भूमि से सम्बन्ध होना आवश्यक है। छत पर होने से ऐसा नहीं होता। इसलिए घर की छत पर शिवलिङ्ग को बिना स्थापित किए ही उसकी पूजा कर सकते हैं, पर स्थापना का विधान नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- क्या रुद्राक्ष के अलग-अलग वर्ण होते हैं? उसे धारण करने के लिए भी क्या वर्णाश्रम का विचार करना पड़ता है?

समाधान :- हाँ, रुद्राक्ष के चार वर्ण होते हैं। ब्राह्मण वर्ण का रुद्राक्ष श्वेत होता है, क्षत्रिय वर्ण का रुद्राक्ष थोड़ी लालिमा लिए होता है, वैश्य वर्ण का रुद्राक्ष पीला होता है और शूद्र वर्ण का रुद्राक्ष काला होता है। पर आजकल इनकी पहचान करना बड़ा कठिन है क्योंकि दुकानदार पॉलिश करके उसका रंग बदल देते हैं। किसी विशेष वर्णाश्रम के लिए विशेष वर्ण के रुद्राक्ष की विधि है ऐसी कोई बात नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- संन्यासी महात्मा भोजन के पूर्व गीता के १५वें अध्याय का पाठ क्यों करते हैं?

समाधान :- संन्यासी महात्माओं के अधिकांश आश्रमों में सायंकाल शिवमहिम्नःस्तोत्र का पाठ होता है, ऐसी एक परम्परा है। इसी प्रकार भोजन के पूर्व गीता के १५वें अध्याय का पाठ करने की भी एक परम्परा समझनी चाहिए। इस परम्परा के पीछे भी यह रहस्य है कि १५वें अध्याय में एक श्लोक आता है -

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।। (१५.१४)

प्राणियों के शरीर में स्थित रहनेवाला मैं प्राण और अपान से संयुक्त होकर वैश्वानररूप से चारों प्रकार के भोजन (भक्ष्य, भोज्य,चोष्य तथा लेह्य) को पचाता हूँ। इस प्रकार ऐसा पाठ करने से भोजन के पूर्व एक स्मृति बनती है कि जठराग्नि के रूप में वैश्वानर भगवान् ही अन्दर बैठे हैं। उनके लिए मैं यज्ञ-आहुति के रूप में भोजन देता हूँ। **ऐसा करने से वह भोजन यज्ञ के समान हो जाता है।**

*****

जिज्ञासा :- जपमाला को मातृकाओं से कैसे अभिमन्त्रित करते हैं?

समाधान :- पहले माला के अन्य संस्कार करके फिर उसके एक-एक दाने को एक-एक मातृका से अभिमन्त्रित किया जाता है। ५४ मातृकाएँ हैं, उनका अनुलोम-विलोम करने पर उनकी संख्या १०८ हो जाती हैं। उनके द्वारा माला के १०८ दानों को अभिमन्त्रित किया जाता है। ५४ मातृकाएँ इस प्रकार हैं - १६ स्वर, ३३ व्यञ्जन, ळ, क्ष, प्रणव, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय।

*****

प्रारब्ध, पुण्य-पाप, संस्कार

जिज्ञासा :- आजकल पाप और अधर्म का भय लोगों के मन से उठता जा रहा है, इसका क्या कारण है?

समाधान :- सृष्टि में इस समय तमोगुण-रजोगुण का भोग चल रहा है और सत्त्वगुण की तपस्या। समष्टि में जैसा चलता है, लोगों की वृत्ति भी वैसी ही हो जाती है। इसलिए लोग भी रजोगुणी-तमोगुणी हो गये हैं। ऐसे समय में साधक भगवान् की शरण लेकर अपने को बचा सकता है, पर समष्टि में परिवर्तन नहीं कर सकता। जैसे सरकार कहती है कि चाहे कितना भी अन्याय हो, पर तुम कानून को अपने हाथ में नहीं ले सकते। किसी को दण्ड देने का अधिकार तुमको नहीं है, वह तो न्यायाधीश का कार्य है। इसी तरह शास्त्रीय कानून को आप अपने हाथ में नहीं ले सकते। परमेश्वर सबका नियन्त्रक है, दण्ड आदि देना उसी का कार्य है, आपका नहीं।

आपका कर्तव्य तो यही है कि अपने जीवन को पूर्णरूप से शास्त्रीय बनाएँ। यदि आप साधु हैं तो आपके जीवन में यम-नियम तथा पूर्ण समत्व प्रतिष्ठित होना चाहिए। आपको तितिक्षु होना चाहिए, क्रोध के वश में नहीं होना चाहिए और आपकी बुद्धि निरन्तर आध्यात्मिक चिन्तन में लगी रहनी चाहिए। यदि आपका जीवन ऐसा होगा तो उसी जीवन का अन्य लोगों पर प्रभाव पड़ेगा, कोरे प्रवचन से कुछ होनेवाला नहीं है। व्यक्ति-निर्माण से समाज-निर्माण होता है, यही सिद्धान्त है। इसलिए आप अपने जीवन का निर्माण करिए।

समाज में क्या चल रहा है, दूसरे लोग पाप से भय नहीं कर रहे हैं इसका विचार छोड़ दीजिए। जो अपने सम्पूर्ण दोषों को नहीं निकाल सकता उसे दूसरे के दोषों को कहने का क्या अधिकार है? व्यक्ति पूर्ण निर्दोष हो जाए

तब भी जहाँ उसे अधिकार है वहीं दोषों को कह सकता है, हर जगह नहीं। इसलिए समाज के दोष देखने की अपेक्षा अपने दोषों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- सूतसंहिता में जहाँ पापों के फल का वर्णन है, वहाँ भ्रूणहत्या का उल्लेख नहीं है। क्या यह पाप नहीं है?

समाधान :- सूतसंहिता में तो भगवान् ने स्वयं ही कह दिया है कि मैं यहाँ पापों के विषयों में संक्षेप में बता रहा हूँ। शास्त्र में जहाँ कहीं भी किसी विषय को संक्षेप में बताया जाता है, वहाँ उसके पूरक दूसरे शास्त्र होते हैं। जो यहाँ नहीं कहा गया, उसे अन्य शास्त्रों से गृहीत कर लिया जाता है। जो यहाँ कहा गया है, पर दूसरे शास्त्रों में नहीं है उसका वहाँ ग्रहण कर लेते हैं। यह एक शास्त्रीय पद्धति है। भ्रूणहत्या पाप है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है, इसे पाप के रूप में ही मानना चाहिए। शास्त्र में भ्रूणहत्या यह शब्द दो अर्थों में मिलता है - एक अर्थ विद्वान् ब्राह्मण की हत्या कर देने में और दूसरा गर्भ का गिरा देने में। गर्भस्थ बालक को मार देना भ्रूणहत्या है यह शास्त्र की दृष्टि में बड़ा भारी पाप है।

*****

जिज्ञासा :- संसार में सबसे बड़ा पाप और सबसे बड़ा पुण्य कौन-सा है?

समाधान :- संसार में जितने भी पाप हैं उन सबको मिलाकर **आधा** पाप है और **परमेश्वर को स्वीकार न करना यह एक पाप है**। इससे बड़ा कोई पाप नहीं है।

यह समझ लेना कि परमेश्वर हमारी सभी वृत्तियों का साक्षी है, हमारा नियामक है, हमारे कर्मों का फलदाता है, इस प्रकार से **परमेश्वर को अपने जीवन में स्वीकार कर लेना यह एक पुण्य है**। संसार में बाकी जितने पुण्य हैं उन सबको मिलाकर **आधा पुण्य** है। इसलिए जीवन में ईश्वरविषयक

स्वीकृति से बड़ा कोई पुण्य नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- पाप की पहचान क्या है?

समाधान :- सीधी-सी बात है, **जिस व्यवहार को करने पर तुम्हें दूसरों से छिपाना पड़ता है, वही पाप है।** तुम उस व्यवहार को गलत नहीं मानते तो छिपाओगे क्यों! इसका मतलब तुम उसे गलत मानते हो। तुम्हारे उस व्यवहार के साथ न तो तुम्हारे माता-पिता का, न समाज का, न धर्म का और न ही ईश्वर का अर्थात् किसी का भी अनुमोदन नहीं है। तुम उस व्यवहार को छिपाते हो इसका अर्थ हुआ तुम्हें उसके गलत होने का ज्ञान भी है। इसलिए पाप करके व्यक्ति स्वयं ही जान लेता है उसे पहचानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- गलत संस्कारों और आदतों को छोड़ने के लिए क्या उपाय हैं?

समाधान :- संस्कार आखिर बनाता कौन है? आप ही तो बनाते हैं न! आप पहले मिठाई खाते हैं उसका रस मिलने पर फिर खाने की इच्छा होती है, फिर खाने पर रस और पक्का हो जाता है। करते-करते वही संस्कार वासना बन जाता है। अब आप मिठाई खाए बिना रह ही नहीं सकते। संस्कारों के अनुसार ही आगे आपकी प्रवृत्ति होती है जिससे धर्माधर्म और उसके भोग के लिए फिर शरीर-प्राप्ति, यही बन्धन है।

यह आदत या संस्कार आपका ही बनाया हुआ है तो उसे हटा भी आप ही सकते हैं। विषयों के सङ्ग से संस्कार बना है, उसे काटना है तो आप सत्सङ्ग में लग जाइए। गुरु और शास्त्र का आधार ले लीजिए तो धीरे-धीरे वह कट जाएगा। किसी भी गलत आदत को छोड़ने के लिए

पहले उसे दोषरूप से देखना पड़ेगा, यह पक्का करना पड़ेगा कि यह मेरे लिए हानि का कारण है और मन में यह संकल्प करना पड़ेगा कि हमें हर हाल में इसे छोड़ना है। केवल संकल्प करने से ही काम नहीं चलेगा क्योंकि यदि उस आदतवाले लोगों के सङ्ग में रहोगे तो संकल्प टूट जाएगा। इससे बचने के लिए निर्व्यसनी का सङ्ग करना पड़ेगा। कुछ समय ऐसी जगह रहना पड़ेगा जहाँ उन संस्कारों को जगने का मौका न मिले। यदि अपना संकल्प दृढ़ रखोगे तो धीरे-धीरे वे गलत संस्कार और आदत छूट जाएँगे।

*****

जिज्ञासा :- जानते हुए या अनजाने में कोई पाप हो जाए तो उसकी निवृत्ति परमात्मा को कर्म-समर्पण करने से हो जाती है या कोई अन्य प्रायश्चित्त आवश्यक है?

समाधान :- पाप हो जाए तो उसकी निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त यही है कि व्यक्ति को पहले हृदय से स्वीकार करना चाहिए कि हमसे यह दोष हो गया और सचाई से पश्चात्ताप करना चाहिए, इसके बिना भगवान् को अर्पण करने का कोई महत्व नहीं है। भगवान् के सामने प्रतिज्ञा करो कि ऐसी गलती आगे नहीं होगी, मैं जैसा भी हूँ आपकी शरण में हूँ, इसलिए मेरा सब कुछ आपको समर्पित है, यह ठीक प्रायश्चित्त है। ऐसा नहीं करना कि जितने भी दोष हैं वे तो भगवान् को सौंप दें और जितने गुण हैं उन्हें अपना समझें। पुण्य अपने पास रखें और पाप भगवान् को सौंप दें, ऐसी चालाकी परमार्थ में नहीं चलती।

शास्त्र के अनुसार भगवान् के नाम का जप, उसका स्मरण बड़े-बड़े पापों को दूर कर देता है। जैसे अजामिल की कथा सब जानते हैं। नारायण नाम के स्मरण से ही उसके सारे पाप दूर हो गए। नाम-जप से बड़ा दूसरा कोई प्रायश्चित्त नहीं है। पर जिन लोगों को लगता है कि इतना बड़ा

पाप हो गया तो छोटे-से नाम-जप से कैसे दूर होगा, जिन्हें भगवन्नाम की शक्ति में विश्वास नहीं है, उन्हें तो दूसरा शास्त्रीय प्रायश्चित्त करना ही पड़ेगा।

*****

जिज्ञासा :- जीव के प्रारब्ध को सञ्चित कर्म का कुछ अंश ही क्यों मानते हैं? सम्पूर्ण सञ्चित कर्म को ही प्रारब्ध क्यों नहीं मान सकते?

समाधान :- जीव ने बहुत कर्म सञ्चित कर रखे हैं, उन सभी का फलभोग एक साथ होना कैसे सम्भव होगा! उनमें से कुछ कर्म स्वर्ग में ले जानेवाले हैं तो कुछ नरक में और कुछ पशु-शरीर में ले जानेवाले हैं। इसलिए जो कर्म फल देने के लिए तैयार हो जाते हैं उन्हीं के अनुसार शरीर मिलता है। उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं। जैसे कहीं पर वर्षा होती है तो पृथ्वी में जितने बीज हैं वे एकसाथ नहीं निकलते क्योंकि काल जिसको पकाकर रखता है वही निकलता है, शेष पृथ्वी में ही पड़े रहते हैं और सड़ते भी नहीं।

हमने सुना है दक्षिण भारत में एक पहाड़ी है, जहाँ एक विशेष प्रकार का फूल खिलता है, वह जब खिलता है तो पूरा पहाड़ फूलों से ढँक जाता है। फिर जब सूख जाता है तो ग्यारह वर्ष तक नहीं खिलता, लेकिन वह बीज सड़ता नहीं है। फिर बारहवें वर्ष में उग जाता है। वह ग्यारह वर्ष तक क्यों नहीं उगता? इसी प्रकार शरीर को उत्पन्न करनेवाले प्रारब्ध कर्म को भी समझना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- सुना है पाप और पुण्य की समता होने पर मनुष्य-शरीर मिलता है। यदि मनुष्य-शरीर में पाप-पुण्य की समता को मानें तो सभी मनुष्यों में विषमता क्यों दीखती है?

समाधान :- जीवों का शरीर दो प्रकार के कर्मों का ही फल है। वे कर्म हैं - धर्म और अधर्म। धर्म का फल सुखभोग होता है तो अधर्म का दुःखभोग। धर्म की अधिकता है तो सुख भोगने के लिए देवशरीर मिल जाता

है और अधर्म की अधिकता होने पर दुःखभोग के लिए पशु, वृक्ष इत्यादि शरीर अथवा नारकीय शरीर मिलता है। मनुष्य-शरीर में दोनों का भोग है, पर वह सभी में समानरूप से नहीं है। जैसे किसी विद्यार्थी ने सौ में से चालीस अंक अर्जित किए तो भी उसे उत्तीर्ण मानते हैं और साठ अंक अर्जित करनेवाले को भी उत्तीर्ण मानते हैं। देखिए! दोनों छात्र उत्तीर्ण हैं, फिर भी साठ अंक अर्जित करनेवाले की अपेक्षा चालीस अंक अर्जित करनेवाले विद्यार्थी की गलतियाँ अधिक है। दोनों के फल में समता होते हुए भी विषमता दिखाई दे रही है। वैसे ही किसी में पुण्य ज्यादा हैं तो किसी में पाप। इसलिए समानरूप से मनुष्य-शरीर होते हुए भी उसमें भोग होनेवाले सुख-दुःख में विषमता हो सकती है।

*****

जिज्ञासा :- सुना है उपदेश करते समय गुरु उच्च स्थान पर बैठता है और शिष्य नीचे स्थान पर, परन्तु कहीं-कहीं आश्रमों में ऐसी व्यवस्था होती है कि गुरु का स्थान नीचे और शिष्यों का ऊपर होता है। ऐसे में क्या शिष्यों को प्रत्यवाय (पाप) नहीं लगेगा?

समाधान :- ऊपर-नीचे की बात नहीं है। यह आश्रम की व्यवस्था है, जहाँ जिसको बैठने को व्यवस्थित किया है वहाँ बैठना चाहिए। हाँ, आप अपने मन से ऊपर बैठेंगे तो प्रत्यवाय के भागी होंगे। रामचरितमानस में आता है – **प्रभु तरु तर कपि डार पर... (मानस, बाल.-२९)** भगवान् श्रीराम वृक्ष के नीचे लेटते थे और बन्दर वृक्षों की टहनियों पर। ऐसे में उनका अनिष्ट तो नहीं हुआ क्योंकि यहाँ पर भाव की प्रधानता है।

एक बार मैं जयपुर से कहीं जा रहा था, साथ में एक ब्रह्मचारी था। ट्रेन में रिजर्वेशन करवा रखा था, एक बर्थ ऊपर थी, एक नीचे। हमने ब्रह्मचारी से कहा, 'देखो! मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है। मैं नीचे की बर्थ पर लेटूँगा, आप ऊपर जाएँ।' वह बोला, 'यह कैसे हो सकता है, सेवक ऊपर रहे और स्वामी

नीचे! इसलिए आपको ऊपर ही जाना पड़ेगा।' देखिए! उसकी क्या सोच है, वह मेरी समस्या नहीं समझता है। इस बात पर विचार नहीं करता कि मैं गुरु की बात को काट रहा हूँ। उसे समझाओ तो समझ में भी नहीं आता। इसलिए ऊपर-नीचे समझ की बात है।

कर्मकाण्ड इत्यादि में भी ब्राह्मण का स्थान अन्य वर्णों की अपेक्षा ऊँचा रहता है, पर राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय का स्थान ऊँचा रहता है और ब्राह्मण का नीचे। वहाँ पर ऐसी व्यवस्था है क्योंकि वहाँ यज्ञ का मूल क्षत्रिय है, ब्राह्मण नहीं। इसलिए क्षत्रिय का स्थान ऊपर रहता है और ब्राह्मण का नीचे। अतः जिसके लिए जहाँ जैसी व्यवस्था है उसको उसी के अनुसार रहना चाहिए, तब तो प्रत्यवाय का भागी नहीं होगा।

*****

जिज्ञासा :- व्यक्ति के संस्कारों का सम्बन्ध यदि पूर्व जन्मों से मानें तो फिर बालक के गर्भाधान इत्यादि संस्कारों का क्या महत्व है?

समाधान :- हाँ! संस्कारों का सम्बन्ध व्यक्ति के पूर्व जन्मों से होता है, इसमें कोई संशय नहीं है। पर माता-पिता के द्वारा करवाए जानेवाले संस्कारों का भी अपना महत्व है क्योंकि बालक में पूर्वजन्मों के अच्छे-बुरे सभी संस्कार सुषुप्तरूप में रहते हैं। उनमें से अच्छे संस्कारों को जगाने के लिए बालक का संस्कार किया जाता है। फिर उसे अपना पुरुषार्थ भी करना पड़ता है। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो बुरे संस्कारों को बल मिल जाएगा क्योंकि उनको जगाने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे तो अनुकूल वातावरण मिलते ही स्वतः जग जाते हैं। जैसे खेत में घास को अंकुरित होने के लिए किसी पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं रहती। जल मिलते ही घास स्वतः अंकुरित हो जाती है।

परन्तु फसल को तैयार करने के लिए बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है। इसलिए बालक के संस्कारों का सम्बन्ध पूर्वजन्मों से होने पर भी उसके

गर्भाधान आदि संस्कारों को अनावश्यक समझकर उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- प्रारब्ध की सीमा कहाँ तक होती है?

समाधान :- पहले तो यह समझना चाहिए कि प्रारब्ध किसको कहते हैं! जिन कर्मों का फलभोग करवाने के लिए यह शरीर उत्पन्न हुआ है, उन्हीं कर्मों को प्रारब्ध कर्म कहते हैं। अतः जब तक वर्तमान शरीर रहेगा तब तक प्रारब्ध कर्म भी रहेगा क्योंकि शरीर को चलाने में हेतु भी प्रारब्ध कर्म ही है। इसलिए प्रारब्ध कर्म की सीमा वर्तमान शरीर तक ही समझना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- भ्रूणहत्या का प्रायश्चित्त क्या है?

समाधान :- आजकल भ्रूणहत्या समाज में एक बहुत बड़ा कलंक बनी हुई है। जिनको हम सभ्य परिवार कहते हैं वहाँ भी यह समस्या देखी जाती है। शास्त्र में इसको घोर पाप कहा गया है।

प्रायश्चित्त की जहाँ बात है तो किसी भी पाप का मुख्य प्रायश्चित्त यह है कि उसके प्रति पश्चात्ताप होना चाहिए कि हमने बहुत बड़ा अपराध किया है। उसको छिपाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि पाप और पुण्य छिपाने से प्रबल हो जाते हैं और प्रकट होने से कमजोर हो जाते हैं। **इसलिए पाप को छिपाना नहीं चाहिए और पुण्य को प्रकट नहीं करना चाहिए।**

अब दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि भविष्य में इस प्रकार का पाप करने की गलती नहीं करूँगा, न ही पाप का अनुमोदन करूँगा। फिर विचार करना चाहिए कि हमने जो पाप किया है, उसको नष्ट करने के लिए उपाय करना चाहिए। शास्त्र में ऐसा कहा है - **धर्मेण पापमपनुदति (तैत्ति.आ.-१०.६३.७)**। इसलिए भगवान् की आराधना करनी चाहिए क्योंकि भगवान्

की आराधना से बढ़कर दूसरा कोई प्रायश्चित्त नहीं है। फिर एक निश्चय करे कि शास्त्रीय दृष्टि से जो भी पाप हैं उनसे दूर रहूँगा। ऐसा नहीं कि एक पाप का प्रायश्चित्त करते रहो और दूसरा पाप होता रहे। यह किसी भी पाप का सामान्य रूप से प्रायश्चित्त है। इसलिए भ्रूणहत्या के लिए भी इसका उपयोग किया जा सकता है। कभी-कभी बड़े-बड़े पाप भी उत्कृष्ट पुण्य से नष्ट हो जाते हैं।

एक डाकू था, उसने अपने जीवन में ६७ हत्याएँ की थीं। इतनी हत्याओं का कोई व्यक्ति कैसे प्रायश्चित्त कर सकता है! एक दिन उसने विचार किया कि मेरी क्या गति होगी! इस विचार से परेशान होकर वह जंगल में किसी महात्मा की कुटिया में गया और महात्माजी से पूछा, 'क्या भगवान् मुझे अपनी शरण में ले सकते हैं?' महात्मा ने कहा, 'भगवान् का तो वचन है - **सन्मुख होइ जीव मोहि जबहि। जनम कोटि अघ नासहि तबहि (मानस,सु.-४३.१)**।। जीव जब भगवान् के सम्मुख हो जाता है तो उसी क्षण उसके करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। देखिए! इससे बड़ा और प्रायश्चित्त क्या हो सकता है! महात्मा ने कहा, 'भगवान् तो भाव देखते हैं, यह नहीं देखते कि पूर्व में तुमने क्या किया है। तुम भविष्य में पाप करना छोड़ दो तो भगवान् तुम्हें शरण में ले सकते हैं।'तब उसने कहा, 'मैं भविष्य में पाप नहीं करूँगा। आप मुझे भगवान् की शरण में जाने का कोई उपाय बता दीजिए।' महात्मा ने उसे एक मन्त्र सुना दिया और कहा, 'जाओ! एकान्त में जप करना।'

उसने कहा, 'महाराज! मुझे कैसे पता चलेगा कि भगवान् ने मेरे अपराधों को क्षमा करके मुझे अपनी शरण में ले लिया है?' महात्मा ने सोचा इसको समझाना तो बहुत कठिन है। फिर एक युक्ति लगाई और कहा, 'तेल में कोयला मिलाकर अपने कपड़ों को रंग लो और उन्हें धोना नहीं। फिर खूब भजन करना। जब वे कपड़े सफेद हो जाएँ तो समझना भगवान् ने आपको

क्षमा करके शरण में ले लिया।' अब वह जंगल में किसी एकान्त स्थान में जाकर खूब जप करने लगा। प्रारब्धवश कुछ आ गया तो भोजन कर लिया, नहीं तो भगवान् भरोसे चलता रहा।

एक दिन एक व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ कुछ सामान लेकर बैलगाड़ी से जंगल के मार्ग से जा रहा था। चलते-चलते सायंकाल हो गया और उन्होंने उस डाकू को महात्मा समझकर उसकी कुटिया में रात को विश्राम करने का निश्चय किया। एक डाकू उन्हें लूटने के लिए उनकी गाड़ी के पीछे पहले से ही चल रहा था। उस डाकू ने भी वहाँ आकर महात्मा को प्रणाम किया और वहीं सोने का निश्चय किया। उसने विचार किया कि जब ये सो जाएँगे, तब इनका गला काटकर इनका सामान लेकर चला जाऊँगा। यात्री लोग तो महात्मा का आश्रम समझकर निश्चिन्त होकर सो गए। पर वह महात्मा तो पहले डाकू था, इसलिए उसकी दृष्टि से कोई डाकू कैसे बच सकता था!

वह सावधान था कि अतिथि की रक्षा करना हमारा धर्म है। एक समस्या उसके सामने थी कि गुरुजी ने कहा है किसी को मारना नहीं, परन्तु इस डाकू को मारे बिना अतिथियों की रक्षा नहीं हो सकती। वह इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि डाकू उठा और तलवार लेकर उन्हें मारने के लिए चला। इतने में वह झट् से उठा और उस डाकू से तलवार छीनकर कहा, **'जैसे ६७ वैसे ६८!'** (जैसे पहले ६७ मारे थे, उसी प्रकार ६८वाँ भी चलेगा)। ऐसा कहकर उस डाकू को मार दिया और गड्ढा खोदकर जमीन में गाड़ दिया।

यात्री लोग इस बात से अनभिज्ञ थे। वे तो सुबह जल्दी उठकर चले गए। सुबह प्रकाश होने पर जब उसने देखा तो उसके कपड़े सफेद दिखाई दिए। यह देखकर वह महात्मा के पास गया तो महात्मा ने कहा, 'अरे! तुम्हारे ये कपड़े सफेद कैसे हो गए?' उसने कहा यह जानने के लिए ही तो मैं आया हूँ। महात्मा ने पूछा, 'तुमने कोई पुण्यविशेष किया है क्या?' उसने कहा,

'जैसे ६७ वैसे ६८!' महात्मा ने जब उसका तात्पर्य पूछा तो उसने पूरा वृत्तान्त सुनाया। महात्मा ने कहा, 'बेटा! अब तू शुद्ध हो गया। समझ ले कि तुझे भगवान् ने शरण में ले लिया है क्योंकि शरणागत की रक्षा करने का जो पुण्य है उसने तेरे पापों को नष्ट कर दिया है।' इस प्रकार जो कुछ भी यह हुआ, भगवान् की शरणागति से ही हुआ।

देखिए, ६७ हत्याओं का पाप दो अतिथियों की रक्षा करने से नष्ट हो गया। पर वह इसलिए नष्ट हुआ कि उसने उन पुरानी गलतियों को दुहराया नहीं और भगवान् के भजन में ही लगा रहा। अतः साररूप से यही समझना चाहिए कि भगवान् की शरणागति ही सभी प्रकार के पापों का प्रायश्चित्त है।

******

जिज्ञासा :- इसका निर्धारण कैसे करें कि मुझे जो कुछ प्राप्त हो रहा है वह प्रारब्ध से है अथवा ईश्वरकृपा से?

समाधान :- किसी को जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह ईश्वरकृपा और प्रारब्ध दोनों मिलकर ही प्राप्त होता है। जैसे किसी कल्पवृक्ष के नीचे दस व्यक्तियों ने अलग-अलग संकल्प किए, उनके संकल्पों का फल तो कल्पवृक्ष ही देगा, पर उनके संकल्पों के अनुसार होनेवाले भिन्न-भिन्न फलों में हेतु कल्पवृक्ष नहीं है, उसमें तो हेतु उनके संकल्प ही हैं। इसी प्रकार ईश्वर की कृपा के बिना कोई एक श्वास भी नहीं ले सकता, फल की बात तो दूर है। इसलिए फल तो ईश्वर ही देता है क्योंकि जड़ प्रारब्ध में फल देने की सामर्थ्य नहीं है। पर उस फल की भिन्नता में हेतु जीव का प्रारब्ध ही है।

******

तीर्थ महिमा

जिज्ञासा :- शास्त्रों में काशी, प्रयाग आदि तीर्थों की बहुत महिमा कही गई है। पर शास्त्र में एक जगह ऐसा भी कहा गया है - **तीर्थं परं किं स्वमनो विशुद्धम्** ... इस शास्त्र-पंक्ति का क्या तात्पर्य होगा?

समाधान :- अपना मन विशुद्ध हो जाए तो इससे बड़ा तीर्थ और कोई नहीं है। आप तीर्थयात्रा भी जाते हैं तो किसलिए? मन को शुद्ध करने के लिए ही न! मन को शुद्ध करने के और भी साधन हैं, उनसे भी यह शुद्ध हो सकता है। आप तीर्थ गए और वहाँ के नियमों का पालन नहीं कर पाए, कुछ पाप हो गया तो वह वज्रलेप अर्थात् बहुत पक्का हो जाता है, उसको मिटाना बहुत मुश्किल होता है। इससे तो आपके मन में ग्लानि बढ़ जाएगी। इसलिए शास्त्र में कह दिया कि यदि मन शुद्ध है, कामादि विकारों से रहित है, तो यही सबसे बड़ा तीर्थ है।

*****

जिज्ञासा :- पुराणों में कहा है कि नर्मदा को सहस्रार्जुन, भीम इत्यादि महाबलियों ने रोकने का प्रयास किया, पर वे सफल नहीं हुए। परन्तु आजकल देखते हैं कि बड़े-बड़े बाँध बनाकर नर्मदा को बलात् रोका जा रहा है, फिर भी नर्मदा शान्त क्यों है?

समाधान :- पुराणों की कथाओं में किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए। पर आज जो बाँध बनाकर नर्मदा की धारा को रोका जा रहा है, इसमें नर्मदा की इच्छा ही समझना चाहिए जिससे उसका जल दूर-दूर जाकर लोगों की प्यास को शान्त करे, सिंचाई के द्वारा अन्न उत्पन्न करे, उसके जल द्वारा विद्युत बनाई जाए। नर्मदा चाहे तो किसी बाँध में सामर्थ्य नहीं कि वह उसकी धारा को रोक सके।

व्रत एवं पर्व

जिज्ञासा :- चान्द्रायण-व्रत करने का क्या विधान है तथा इसका लाभ क्या है?

समाधान :- कृच्छ्र चान्द्रायण-व्रत का विधान हमने जैसा सन्तों से सुना है वैसा आपको बता देते हैं। इसमें सबसे पहले देशी गाय को जौ खिलाना पड़ता है, यह जौ गाय के गोबर के साथ ज्यों-का-त्यों निकल जाता है। उस जौ को गोबर से अलग करके धो लेना चाहिए। अब उसमें कोई स्वाद या सार नहीं रहता। उसे सुखाकर आटा बना लेना चाहिए। इस आटे में थोड़ा गोघृत डालकर लाप्सी बनाकर एक महीने तक वही खाए, दूसरा कोई अन्न नहीं। खाने का परिमाण भी निश्चित है।

पूर्णिमा से व्रत का आरम्भ करे, उस दिन लाप्सी के पन्द्रह ग्रास ले। एक ग्रास का परिमाण लगभग मुर्गी के अण्डे के बराबर होना चाहिए। फिर प्रतिपदा को चौदह, द्वितीया को तेरह, इस प्रकार प्रतिदिन एक-एक ग्रास घटाता जाए। अमावस्या को पूर्ण उपवास करना पड़ता है। इसके बाद शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक ग्रास, द्वितीया को दो ग्रास, इस प्रकार प्रतिदिन एक-एक ग्रास बढ़ाता जाए। पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास लेकर फिर व्रत पूरा होगा। अमावस्या से भी कुछ लोग व्रत शुरू करते हैं, उसमें ग्रास घटाने-बढ़ाने का क्रम उल्टा हो जाएगा। इस व्रत को करने से पहले पञ्चगव्य आदि का पान करके शरीर की शुद्धि करते हैं, उसके पश्चात् ही व्रत शुरू किया जाता है। शास्त्रों में आता है कि यह व्रत पूर्वकृत बड़े-बड़े पापों को नष्ट कर देता है।

*****

जिज्ञासा :- उपवास के समय निराहार ही रहना चाहिए या फलाहार कर सकते हैं?

समाधान :- पहले तो उपवास का अर्थ जानना चाहिए। यह शब्द **उप** और **वास** दो अवयवों से मिलकर बना है। उप का तात्पर्य है - **समीप** और वास का है - **निवास**। आपका मन अधिकांश समय भगवान् के समीप रहे अर्थात् भगच्चिन्तन में तल्लीन रहे। खाने-पीने इत्यादि से मन बहिर्मुख होता है, इसलिए शास्त्र में उसपर अंकुश लगाने के लिए खाने-पीने के संयम के लिए कहा है, इसी बात को लेकर इसे उपवास कहते हैं। परन्तु लोगों ने फलाहार करने का नाम उपवास रख दिया। यदि फलाहार से आपका चित्त बहिर्मुख हो रहा है तो उसे उपवास कैसे कह सकते हैं! फलाहार का निर्णय करना भी आजकल कठिन है। एक जगह जिस वस्तु को फलाहार के रूप में प्रयोग किया जाता है उसे अन्यत्र सामान्य रूप से भी प्रयोग नहीं किया जाता।

इसलिए उपवास में खान-पान की अपेक्षा मन-इन्द्रिय का संयम ही मुख्य रूप से सहायक है। हम इनका संयम करके जितना हो सके भगवान् का चिन्तन करें। निराहार रहने के फलस्वरूप मन भगवच्चिन्तन में रहना चाहिए। यदि निराहार रहने की अपेक्षा फलाहार करने से मन भजन में अच्छा लगता है तो फलाहार करके उपवास कर सकते हैं। उपवास चाहे निराहार करें या फलाहार करके, उसमें छः सावधानियाँ अपेक्षित हैं। उस दिन मिथ्या-भाषण न करे, क्रोध न करे, किसी जीव की हिंसा न करे, किसी से उपहार रूप में कोई वस्तु ग्रहण न करे, दिवा-शयन त्याग दे और ब्रह्मचर्य का पूर्णरूप से पालन करे।

*****

जिज्ञासा :- पाशुपत-व्रत किससे सम्बन्धित है और इसका क्या महत्व है? क्या सभी लोग इसका पालन कर सकते हैं?

समाधान :- आगम शास्त्र में जीव को पशु कहा है और भगवान् शिव को पशुपति। यह पशुरूपी जीव मायारूपी पाश से बँधा हुआ अपनी स्वतन्त्रता को भूल गया है। यदि यह किसी उपाय से पशुपति महादेव को

प्रसन्न करे तो वे कृपा करके इसको पाश से मुक्त कर सकते हैं। महादेव की प्रसन्नता के लिए महादेव से सम्बन्धित एक व्रत होता है जो **पाशुपत-व्रत** कहलाता है। इस व्रत में साधक के लिए भस्मी-धारण का विशेष रूप से विधान है। रुद्राक्ष भी धारण किया जाता है और व्रतधारी साधक अग्नि को हमेशा साथ में लेकर चलता है। यह व्रत सभी के लिए नहीं है, कुछ विशेष लोगों के लिए ही इसका विधान किया गया है।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्र में व्रत के दिन सोने के लिए निषेध किया गया है, पर उस दिन निद्रा अधिक आती है। ऐसे में क्या करें?

समाधान :- जिसको दिन में सोने का अभ्यास है, उसे तो निद्रा आती ही है, चाहे व्रत हो या न हो। व्रतवाले दिन ज्यादा आती है, ऐसी तो कोई बात नहीं है। हो सकता है आपके मन ने ऐसा स्वीकार कर लिया हो। हाँ, निद्रा न आने का उपाय तो यही है कि उस दिन या तो कुछ भी आहार ग्रहण न करें अथवा फलाहार के रूप में अल्पाहार ही ग्रहण करें और धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करते रहें। थोड़ा घूमते-फिरते भी रहें तो निद्रा से बच सकते हैं।

*****

जिज्ञासा :- देवीभागवत का नाम पुराणों की सूची में नहीं है, फिर उसे पुराण क्यों मानते हैं?

समाधान :- आपने जो सूची देखी उसमें देवीभागवत का नाम नहीं होगा, परन्तु ऐसी भी सूची मिलती है जिसमें उसका नाम है। उस सूची में श्रीमद्भागवत का नाम नहीं है। पुराणों के जो लक्षण कहे गए हैं वे सब देवीभागवत में मिलते हैं और पुराणों की जो भाषा एवं शैली है वह भी उसमें मिलती है। श्रीमद्भागवत में वह शैली नहीं मिलती। अब कहो कि प्रामाणिक कौन-सा है तो समझने की बात है कि व्यासजी ने अठारह पुराण लिखे, साथ ही अठारह उपपुराण भी लिखे हैं। इन दोनों में से एक को मुख्यपुराण और एक को उपपुराण मानने पर दोनों के रचयिता व्यासजी ही सिद्ध होते हैं। इसलिए हमारी दृष्टि में तो दोनों ही व्यासजी के रचे हुए हैं और दोनों ही प्रामाणिक हैं।

*****

जिज्ञासा :- मनुष्य परमात्मा का प्रिय पुत्र है और देवता लोग भी मनुष्य शरीर पाने की कामना करते हैं, ऐसा कहने में शास्त्रों का क्या तात्पर्य है?

समाधान :- श्रीमद्भागवत में एक श्लोक आता है –

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान्सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः।।
(भागवत-११.९.२८)

भगवान् ने सृष्टि करते-करते अनेक प्रकार के शरीर बनाए - वृक्ष बनाए, पशु बनाए, पक्षी बनाए, मछलियाँ बनाईं, इतने प्रकार के जीव बनाए जिनकी गणना करना भी असम्भव है। पर इतनी सृष्टि करके भी परमात्मा को सन्तोष नहीं हुआ। उसे लगा कि अभी तक सृष्टि का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। अन्त में जब मनुष्य शरीर का निर्माण किया तब - **मुदमाप देवः,** वह परमात्मा बहुत प्रसन्न हो गया। इस प्रसन्नता का हेतु क्या था? तो कहा - **ब्रह्मावलोकधिषणम्,** इस मनुष्य शरीर में भगवान् ने बुद्धि का ऐसा विकास कर दिया जिसके द्वारा वह अपने मूल स्वरूप को, ब्रह्म को जान सकता है। दूसरे शरीरों में बुद्धि का ऐसा विकास नहीं है। इसलिए इसके आगे सृष्टि करना बन्द कर दिया।

पशु शरीर में भी भोगों की कमी नहीं है। वे भी अपना सारा काम ठीक से कर लेते हैं। यदि पूर्वजन्म का पुण्य हो तो कुत्ता भी हवाई-जहाज में घूम सकता है। परन्तु पशु रामनाम नहीं ले सकता, सत्सङ्ग नहीं सुन सकता, पुराण नहीं पढ़ सकता है। यह सब तो मनुष्य शरीर में ही सम्भव है। देवयोनि में भी भोग बहुत अधिक होने से भजन की ओर प्रवृत्ति दुर्लभ होती है, पर मनुष्य को सुविधा है कि वह अपनी बुद्धि का ठीक प्रयोग करके चाहे तो देवता बन जाए अथवा अपने स्वरूप को जानकर परमात्मा ही बन जाए। इसीलिए कहा जाता है कि मनुष्य परमात्मा का प्रिय पुत्र है और इसी वजह से देवता भी इस शरीर के लिए लालायित रहते हैं।

*****

जिज्ञासा :- पुराणों में जिन शिवलोक, विष्णुलोक आदि की चर्चा आती है उनका वेदों में कहीं नाम नहीं आता। क्या ये लोक कल्पनामात्र हैं?

समाधान :- वैदिक वाङ्मय में हिरण्यगर्भ ही ईश्वर की प्रथम अभिव्यक्ति है। वह ईश्वर का सगुण-साकार रूप है। वैदिक उपासनाओं के द्वारा प्राप्तव्य सर्वोत्कृष्ट लोक ब्रह्मलोक (हिरण्यगर्भलोक) ही है। इससे श्रेष्ठ

दूसरा कोई लोक नहीं है। तैत्तिरीय उपनिषद् की आनन्द मीमांसा में आदित्यलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक आदि अनेक लोकों का वर्णन करने के बाद अन्तिम में ब्रह्मलोक को ही कहा गया है। वेदों में हिरण्यगर्भ को सर्वदेवतात्मा माना गया है। इसलिए पुराणों में शिवलोक आदि जो उत्कृष्ट लोक कहे गए हैं उन सबका अन्तर्भाव ब्रह्मलोक में ही मानना पड़ता है। अलग-अलग पुराणों में उसी लोक के अलग-अलग नाम रख दिए गए हैं। शिवलोक आदि कोई काल्पनिक लोक नहीं हैं।

*****

जिज्ञासा :- आगम ग्रन्थों में मातृका और मातृकाचक्र के विषय में काफी विचार आता है। मातृका शब्द का ठीक-ठीक अर्थ और रहस्य क्या है?

समाधान :- मातृका शब्द का अर्थ है - ज्ञान की आधारभूता शक्ति। शिवसूत्र में कहा है - **ज्ञानाधिष्ठानं मातृका (१.४)।** अभेदाभासरूपी परज्ञान और भेदाभासरूपी अपरज्ञान दोनों का आधार या कारण मातृका है। अकार से क्षकारपर्यन्त जो कला (वर्ण) है, वही सभी शब्दों का मूल है, वही मातृका है। सभी ज्ञानों के साथ शब्द अनुस्यूत रहता है। कहा भी गया है -

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।
(वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड-१२३)

संसार में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं जो शब्द के अनुगम के बिना, शब्द से मिले हुए बिना होता हो। बिना शब्द के किसी ज्ञेय का ज्ञान नहीं होता।

आगम दृष्टि से देखा जाए तो मातृका शिव की स्वप्रकाश क्रियाशक्ति है। शिव में होनेवाला जो **एकोऽहं बहुस्याम्** यह संकल्प है, यही उनकी क्रियाशक्ति है, यही विश्वजननी है।

स्वभासा मातृका ज्ञेया क्रियाशक्तिः प्रभोः परा।
तस्याः कलासमूहो यस्तच्चक्रमिति कीर्तितम्।।
(शिवसूत्र वार्तिक-२.७.१)

आपका प्रकाश, आपकी चमचमाहट, आपकी क्रियाशक्ति यही मातृका है। प्रभु शिव की जो क्रियाशक्ति है वह आपमें ही है। वाच्य-वाचकात्मक सम्पूर्ण विश्व आपके स्वरूप से अभिन्न मातृकाओं का ही चमत्कार है। मातृकाओं का शक्तिकलासमूह ही मातृका-चक्र कहलाता है। गुरु इस मातृका-चक्र का सम्बोध अर्थात् सम्यक् ज्ञान करा देता है, तब साधक को अनुभव होता है कि सारा वाच्य-वाचकात्मक विश्व मेरी संकल्प शक्ति ही है। अतः ऐसा साधक जो भी संकल्प करता है वह सिद्ध हो जाता है। वह जो कुछ बोलता है वही महामन्त्र हो जाता है।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में ऐसा कथन है कि सभी आश्रमियों को ज्ञान का अधिकार है, परन्तु भगवान् भाष्यकार कहते हैं - **संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनम्।** इसके अनुसार संन्यासी को छोड़कर अन्य आश्रमियों को ज्ञान से मोक्ष नहीं होगा। इस विरोधाभास का क्या समाधान है?

समाधान :- जब तक साध्य-साधन एषणा है तब तक ब्रह्मज्ञान पच नहीं सकता। वास्तव में तो जब तक ये एषणाएँ हैं तब तक व्यक्ति ज्ञान चाहता ही नहीं है, भले ही वह वेदान्त पढ़ ले क्योंकि ये एषणाएँ जगत् से सम्बन्धित हैं। जब तक व्यक्ति जगत् चाहता है तब तक शरीर भी धारण करना पड़ेगा क्योंकि बिना इसके भोग नहीं होगा। इसलिए एषणा है इसका तात्पर्य हुआ व्यक्ति मोक्ष नहीं चाहता, तो उसे वेदान्त पढ़ने मात्र से मुक्ति

कैसे मिल जाएगी!

इसीलिए भगवान् भाष्यकार कहते हैं - **संन्यासपूर्वकादेव आत्मज्ञानाद् मुक्तिः**, अर्थात् एषणात्रयपरित्यागपूर्वक आत्मज्ञान से ही मोक्ष मिल सकता है। यह एषणात्रयपरित्याग ही मुख्य संन्यास है। व्यक्ति ब्रह्मचर्य, गृहस्थ अथवा अन्य किसी भी आश्रम में हो, यदि उसका एषणात्याग सम्पन्न हो गया है तो उसे ज्ञान से मोक्ष मिल सकता है। इसलिए भाष्यकार के कथन और अन्य शास्त्रों में कोई विरोध नहीं है।

*****

जिज्ञासा :- पुराणों में पृथ्वी को सप्तद्वीपा वसुन्धरा कहा जाता है। वहाँ जम्बू, क्रौञ्चादि सात द्वीप भी गिनाए गए हैं, इन द्वीपों के चारों ओर खारे पानी, दूध, दही, इक्षुरस आदि के समुद्र भी बताए गए हैं। ये द्वीप और समुद्र आज क्यों नहीं दिखाई देते?

समाधान :- खारे पानी के बीच में जम्बूद्वीप है जो आज हमें प्रत्यक्ष है। बाकी द्वीप और समुद्र कलियुग के लोगों को दिखाई नहीं दे सकते। जब सतयुग आएगा तब वे दिखाई देंगे। ऐसी बहुत-सी चीजें हैं जो कालविशेष में लुप्त हो जाती हैं। जैसे शास्त्रों में वर्णन आता है कि घरों में मणियों से ही प्रकाश होता था, अब वैसी मणियाँ कहाँ हैं। अब तो मिट्टी का तेल और कोयला ही काम देता है। एक काल था जब लोगों के आह्वान पर सिद्ध और देवता भी आ जाते थे, पर आज वैसा कहाँ होता है क्योंकि लोगों में योग्यता नहीं रही। जब काल बदलेगा तो वे द्वीप और समुद्र फिर प्रकट हो जाएँगे। आज के अफ्रीका, यूरोप आदि महाद्वीप उन सप्तद्वीपों में से नहीं हैं।

*****

जिज्ञासा :- ब्रह्मसूत्रभाष्य में स्थूल-शरीर और सूक्ष्म-शरीर की चर्चा आती है, परन्तु कारण-शरीर का उल्लेख कहीं नहीं दीखता, जबकि वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थों में सर्वत्र तीनों शरीरों की चर्चा आती है। वहाँ उल्लेख न होने में क्या हेतु है?

समाधान :- यदि कोई व्यक्ति ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रथम अध्याय का अच्छी प्रकार से अध्ययन करे तो उसे ज्ञात होगा कि उसमें कारण तत्त्व के विषय में बहुत विचार किया गया है। वहाँ मुख्य विचार जगत्-कारण के विषय में ही है। अध्यासभाष्य में भी यही बात सिद्ध की गई है कि यह संसार आविद्यक है अर्थात् अज्ञान का कार्य है। प्रथम अध्याय में जो कारण तत्त्व कहा है वही अव्याकृत या अज्ञान है। अज्ञान ही कारण-शरीर कहलाता है, इसलिए कारण-शरीर इस नाम से उल्लेख न होने पर भी उसका विचार तो ब्रह्मसूत्र में किया ही गया है।

*****

जिज्ञासा :- गीता में अर्जुन ने पूछा है - **ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः...(१७.१)।** शास्त्र और गुरुवाक्य में विश्वास का नाम ही श्रद्धा है, इसलिए शास्त्रदृष्टि को छोड़कर कोई श्रद्धा से यजन कैसे कर सकता है ?

समाधान :- यहाँ अर्जुन का प्रश्न ऐसे व्यक्ति के विषय में समझना चाहिए जिसने शास्त्र नहीं पढ़ा है। शास्त्र में उसकी श्रद्धा तो है पर शास्त्र की विधियों को जानता नहीं है। परम्परा से जैसा सुन लिया है उसी प्रकार से पूजन आदि करता है। ऐसा पूजन कभी शास्त्र के अनुकूल हो सकता है और कभी नहीं भी। ऐसे व्यक्ति के विषय में अर्जुन की जिज्ञासा है कि उसकी निष्ठा सात्त्विक, राजस या तामस क्या मानी जाए। परन्तु जो व्यक्ति शास्त्र को जानता है लेकिन अहंकार के कारण शास्त्रविधि का उल्लंघन या त्याग करता

है उसे श्रद्धालु नहीं कह सकते। वह तो जानबूझकर शास्त्र का उल्लंघन कर रहा है, इसलिए उसमें श्रद्धा नहीं है। ऐसे व्यक्ति के विषय में वहाँ का प्रश्न नहीं है, यही समझना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्रों में कहीं-कहीं काल को संसार का कारण कहा जाता है। क्या काल की उत्पत्ति नहीं होती?

समाधान :- काल सृष्टि के अन्तर्गत ही है, इसकी भी उत्पत्ति होती है। आप माण्डूक्य उपनिषद् में देख लीजिए –

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।। (१)

इस मन्त्र में त्रिकालातीत शब्द से अव्यक्त को कहा गया है। वह सबका कारण होने से त्रिकालातीत है। इसका अर्थ काल भी उसका कार्य है। इसलिए अव्यक्तोपाधि ईश्वर का कार्य होने से काल सृष्टि के अन्तर्गत ही है। देवी की स्तुतियों में भी ऐसी बातें आती हैं। वहाँ कहा गया है कि तू कालातीत है, तेरे चरणों से निकले जो मयूख (किरणें) हैं वही काल बने हैं।

*****

जिज्ञासा :- छान्दोग्योपनिषद् में ऐसा आता है कि शरीर से मन निकल जाने पर भी इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करती रहीं। क्या बिना मन के इन्द्रियाँ काम कर सकती हैं?

समाधान :- छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार की आख्यायिका आई है। इतिहास और आख्यायिका में यही अन्तर है कि इतिहास पूर्व में घटी हुई घटनाओं का कथन करता है, परन्तु आख्यायिका में काल्पनिक कथाओं के द्वारा विषय को समझाया जाता है। योगवाशिष्ठ, उपनिषद् आदि में कही गई आख्यायिकाओं के बारे में ऐसा ही समझना चाहिए। छान्दोग्य की इस

आख्यायिका में केवल प्राण की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए कल्पना की गई है। उपनिषदों में जो भी आख्यायिकाएँ आती हैं, उनमें कही गई घटनाएँ घटीं या नहीं घटीं उसमें तात्पर्य नहीं होता है। तात्पर्य उस विषय को समझाने में होता है।

इस आख्यायिका में शंकाएँ तो बहुत-सी हो सकती हैं। इन्द्रियाँ एक वर्ष तक बाहर कैसे रहेंगी, फिर लौटकर कहाँ और कैसे आएँगी? पुनः वहाँ पर कहा है कि अमुक इन्द्रिय ने यह कहा, अमुक ने वह कहा, बोलने का कार्य तो वागिन्द्रिय का है तो अन्य इन्द्रियाँ बोलीं कैसे? इसलिए इन आख्यायिकाओं से मूल तात्पर्य को ही समझना चाहिए, ज्यादा प्रपञ्च में नहीं पड़ना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- वेद को अनादि मानते हैं, पर उपनिषदों में अनेक कहानियाँ आती हैं तो क्या उन कहानियों में आनेवाली घटनाएँ वेद से पूर्व की नहीं हैं?

समाधान :- कहानियाँ दो प्रकार की होती हैं। एक इतिहास को कथन करनेवाली और दूसरी आख्यायिकों के रूप में। जो इतिहास का कथन करती हैं, उनमें कही गई घटनाओं को ही पूर्व में घटित समझना चाहिए। जैसे पुराणों में जो भी कथाएँ आती हैं वे पूर्व में घटित घटनाओं को ही कहती हैं, पर वेद में ऐसा नहीं है। वहाँ उन आख्यायिकाओं में कही घटनाओं में कोई तात्पर्य नहीं है। इसलिए वे घटनाएँ किसी काल में घटी हों, यह आवश्यक नहीं है। उन्हें केवल विषयवस्तु को सहजता से समझाने के लिए दृष्टान्त के रूप में समझना चाहिए।

*****

संन्यास

जिज्ञासा :- संन्यासी को एक स्थान पर अधिक समय रुकने में क्या हानि है?

समाधान :- एक बड़े फक्कड़ महात्मा थे, दिगम्बर रहते और कुछ बोलते नहीं थे। कोई मिलता तो इतना ही पूछते, 'अरे भई! कब्र है कहीं?' लोग समझते कि महात्मा पागल है। एक दिन एक सत्सङ्गी गृहस्थ उनसे मिला तो उससे भी यही प्रश्न पूछ लिया। गृहस्थ ने कहा, 'महाराज! कब्र तो है, पर मुर्दा है कहीं?' महात्मा ने अपने शरीर की तरफ इशारा कर दिया, मुर्दा है। उस व्यक्ति ने उन्हें अपने घर ले जाकर एक नए कमरे में ठहरा दिया। दिन-रात उनकी सेवा में लग गया। उन्हें खिलाता, पिलाता, सुलाता सभी सेवा करता। महात्मा वहीं शौच, पेशाब कर देते, सब साफ करता। वे भी चुपचाप बिना बोले मुर्देके समान पड़े रहते।

इसी प्रकार तीन वर्ष बीत गए। एक बार रात्रि में चोर घर में घुसे, घर के लोग सब सोए थे, पर महात्मा जगे थे। चोरों ने अल्मारी का ताला तोड़कर सारे आभूषण निकाले और गठरी में बाँध लिए। महात्मा सब देखते रहे, पर कुछ बोले नहीं। परन्तु जब चोर घर से बाहर निकले तो उनसे रहा न गया। वे भी धीरे-से उनके पीछे चले गए। सबेरे का समय हो रहा था तो चोरों ने डरकर उस गठरी को एक कुँए में डाल दिया, सोचा कि रात को आकर निकाल लेंगे। महात्मा देखकर चुपचाप लौट आए। सुबह जब घर के लोग जागे तो हल्ला हो गया कि चोरी हो गई, गाँव भर के लोग इकट्ठे हो गए। महात्मा ने धीरे-से इशारा किया और लोगों को कुँए तक ले गए। वहाँ जाकर नीचे की ओर इशारा कर दिया। लोग कुँए में उतरे तो सभी आभूषण मिल गए।

तब उस गृहस्थ ने महात्मा से कहा, 'बोलो महाराज! कब्र झूठी कि

मुर्दा झूठा?' महात्मा बोले, 'कब्र सच्ची, मुर्दा झूठा।' इतना कहकर वे एक क्षण भी वहाँ नहीं रुके, चल दिए। कहने का तात्पर्य है कि संन्यासी एक ही जगह कितनी भी सावधानी से रहेगा तो भी वहाँ के संस्कार पड़ ही जाते हैं, कुछ राग-द्वेष बन जाते हैं। यदि विवेक नहीं रहा तो बड़ा अनर्थ हो सकता है। इसीलिए शास्त्रों में संन्यासी के लिए परिव्रजन का इतना महत्व कहा गया है। एक जगह अधिक समय नहीं रुकेगा तो वहाँ के संस्कार दृढ़ नहीं हो पाएँगे जिससे वह रागादि अनर्थों से बचा रहेगा।

*****

जिज्ञासा :- भारतीय समाज में माता को इतना महत्व दिया जाता है, परन्तु शास्त्र में स्त्री के लिए संन्यास निषिद्ध किया गया है, ऐसा क्यों?

समाधान :- पहले तो यह जानने की आवश्यकता है कि शास्त्रीय संन्यास कोई किस परिस्थिति में लेता है और वह संन्यास क्या है? व्यक्ति जब शास्त्रानुसार शुभ कर्म करता है तो उस कर्म के आधार पर वह इस लोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त लोकों को जीत लेता है। अर्थात् कर्मानुसार लोक प्राप्त करता है। पर कदाचित् वह शुद्धचित्तवाला साधक उन लोकों की परीक्षा कर ले तो देखता है कि इनमें ऐसा सुख नहीं मिल रहा है जो स्थायी हो।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् ...

(मुण्डक. उप.-१.२.१२)

तब वह एक ऐसे सुख की खोज करता है जो स्थायी हो, पर वह तो केवल आत्मसाक्षात्कार से ही प्राप्त होता है और आत्मसाक्षात्कार कर्म के द्वारा प्राप्तव्य नहीं है। परन्तु वह साधक तो आत्मसाक्षात्कार ही चाहता है। ऐसी अवस्था में वह कर्म का त्याग करेगा।

इसमें एक कारण तो यह है कि कर्म उसके आत्मचिन्तन में बाधक बनते हैं। दूसरा कारण यह है कि जब साधक में लोकों की इच्छा ही समाप्त हो गई, तो उनको प्राप्त करवानेवाले साधनभूत कर्मों की भी आवश्यकता

नहीं रहती। जब कर्म ही नहीं करना तो उनके सहायक शास्त्र से प्राप्त शिखा-सूत्र, गायत्री इत्यादि की भी आवश्यकता नहीं रहती। तब वह कर्मों के साथ-साथ उन्हें विधिवत त्यागता है। उसे संन्यास कहते हैं। परन्तु उनका त्याग वही करेगा जिसको पहले से वे प्राप्त हों। स्त्री को तो शिखा-सूत्र इत्यादि का अधिकार न होने से पहले से ही प्राप्त नहीं हैं, तो वहाँ त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए वहाँ संन्यास विधि नहीं हो सकती। मन से भले ही त्याग है, पर बाहर से संन्यास की विधि नहीं बन सकती। इतना होने पर भी यह नहीं समझना चाहिए कि भारतीय समाज में स्त्री का महत्व कम है।

*****

जिज्ञासा :- माँ आनन्दमयी इत्यादि स्त्रियों को भी ज्ञान हुआ, ऐसा देखा गया है। यदि स्त्री को संन्यास का अधिकार नहीं है तो यह कैसे हुआ?

समाधान :- बाह्य-संन्यास का ज्ञान से सम्बन्ध नहीं है। केवल आन्तरसंन्यास का ही ज्ञान से सम्बन्ध है और वह स्त्री या पुरुष किसी में भी हो सकता है। बाह्य संन्यास तो केवल एक व्यवस्था है। माँ आनन्दमयी ने बाह्य-संन्यास नहीं लिया था, वे तो सफेद कपड़े पहनती थीं। उनके ज्ञान का सम्बन्ध उनके त्याग-वैराग्य से है। उनमें किसी प्रकार की वासना नहीं थी, इसलिए उन्हें यदि ज्ञान हुआ तो यहाँ पर कोई विरोधाभास नहीं दिखाई देता।

*****

जिज्ञासा :- लोगों को कल्याण के लिए प्रेरित करना क्या संन्यासी का कर्तव्य नहीं है?

समाधान :- संन्यासी का तो एक ही कर्तव्य है - **अपना कल्याण करना।** उसके लिए यह कोई बाध्यता नहीं है कि वह अन्य लोगों को भी मोक्ष के लिए प्रेरित करे। यदि संन्यासी एकान्त में रहकर चिन्तन करता है तो भी अच्छा है, पर वह दयावश किसी को उपदेश या सत्कर्म के लिए प्रेरित करे तो उन लोगों का भाग्य ही समझना चाहिए कि वह कृपा करके उनको उपदेश

देता है। इसलिए महापुरुषों को ऐसा करते देखा भी गया है।

*****

जिज्ञासा :- गीता में कहा है कि अग्नि मात्र त्यागनेवाला संन्यासी नहीं है, अपितु कर्मफलासक्ति का त्याग करनेवाला ही संन्यासी है। फिर संन्यासी लोग अग्नित्याग की बात क्यों करते हैं?

समाधानः- गीता में कर्मफलासक्ति के त्याग मात्र से जो संन्यास कहा है वह निष्काम कर्मयोगी गृहस्थ की स्तुति के लिए कहा है। शास्त्रीय विधि से संन्यास लेनेवाले के लिए तो नारदपरिव्राजकोपनिषद् में अग्निद्वय - **योषिताग्नि** और **बाह्याग्नि** का त्याग बताया गया है। स्त्रीरूपी अग्नि और जगत् में प्रसिद्ध जो अग्नि है, इन दोनों का ही त्याग कहा है। इसलिए शास्त्रीय संन्यासी के लिए फलासक्ति के साथ-साथ अग्नित्याग का भी विधान है।

*****

जिज्ञासा :- मेरे गुरुजी का शरीर शान्त हो गया है। उनके रहते हुए मेरा संन्यास-संस्कार नहीं हुआ, क्या अब मैं उनके नाम से संन्यास ले सकता हूँ?

समाधान :- यदि उन्होंने ऐसा करने के लिए निषेध नहीं किया है, तो आप अपने गुरुजी के नाम से संन्यास ले सकते हैं। इसमें कोई अपराध नहीं है। दूसरी बात, किसी भी महापुरुष के नाम से आप यदि संन्यास लेते हैं तो आपके जीवन में एक जिम्मेदारी हो जाती है कि कभी-भी ऐसा व्यवहार न करें जिससे गुरु की छवि खराब हो। यदि ऐसा करने में आप समर्थ नहीं हैं तो दोष के भागी बन सकते हैं।

*****

जिज्ञासा :- संन्यासी को रुपये रखने चाहिए अथवा नहीं? यदि नहीं

तो आजकल संन्यासी लोग रखते हैं, उसमें क्या हेतु है?

समाधान :- किसी शास्त्रीय बात को समझने के लिए उसे शास्त्रीय दृष्टि से ही देखना चाहिए। पहले तो यह समझना चाहिए कि शास्त्र में संन्यासी शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिसने सम्पूर्ण एषणाओं को त्याग दिया-

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन...
(मुण्डक उप.-१.२.१२)

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति.. (बृह. उप.-४.४.२२/३.५.१)

यहाँ देखिए संन्यासी में प्रवृत्ति का कोई हेतु ही नहीं है। रही बात भोजन की, तो गृहस्थ के घर में संन्यासी, ब्रह्मचारी या अतिथि (अनायास पहुँचा हुआ तीर्थयात्री) के लिए भोजन बनता है। वह पहले इन्हें खिलाएगा, फिर स्वयं खाएगा अन्यथा प्रत्यवाय का भागी बनेगा। इसलिए संन्यासी में भिक्षा के हेतु से भी कोई प्रवृत्ति नहीं बननी चाहिए। रही बात बीमारी इत्यादि के समय की, तो संन्यासी को इसकी चिन्ता क्यों करना! भगवान् पर विश्वास करना चाहिए।

अन्य किसी प्रकार की आवश्यकता संन्यासी को नहीं होनी चाहिए। कोई कहे तीर्थयात्रा आदि के लिए किराये की आवश्यकता पड़ सकती है, तो संन्यासी को पैदल चलना चाहिए। धीरे-धीरे गन्तव्य स्थान पहुँच जाए। अतः संन्यासी में किसी प्रकार से भी प्रवृत्ति का कोई हेतु नहीं बनता और बिना प्रवृत्ति के रुपये रखने में कोई कारण नहीं है इसलिए यह प्रश्न ही नहीं बनता कि संन्यासी को रुपये रखने चाहिए या नहीं!

आजकल के संन्यासी के विषय में पूछो तो आजकल शास्त्रीय संन्यास मिलता ही कहाँ है! इसलिए आजकल के संन्यासी में प्रवृत्ति भी

देखी जाती है। जहाँ प्रवृत्ति है, वहाँ रुपये की आवश्यकता पड़ती है। आवश्यकता पड़ती है तो रखना भी पड़ता है। हाँ, भजन तो आजकल का साधु भी करता है, पर प्रवृत्ति उसमें देखी जाती है। यदि प्रवृत्ति है तो रुपये नहीं रखने का ढोंग क्यों करना! आवश्यकतानुसार कुछ रुपया रख सकता है। बैंक खाता तो संन्यासी को कभी नहीं खुलवाना चाहिए। जब तक प्रवृत्ति है तब तक जितना परमार्थ में सहयोगी हो उतना धन रखे। आजकल ऐसे प्रश्नों का उत्तर देना बहुत कठिन है। सम्पूर्ण समाज ही बदल रहा है तो केवल संन्यासी के विषय में क्या कहा जाए!

*
* *

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।।

संन्यासयोग के द्वारा जिनका मन शुद्ध हो चुका है तथा जिन्हें वेदान्त द्वारा कहे गये तत्त्व का निश्चित ज्ञान है ऐसे साधक ब्रह्मलोक में जाकर अमृतस्वरूप होते हुए कल्पान्त में विदेह मुक्त हो जाते हैं।

सुख-दुःख

जिज्ञासा :- सुख और आनन्द में तथा दुःख और शोक में क्या भेद है?

समाधान :- कोई ऐसा विषय मिल जाए जो हमें बहुत अनुकूल मालूम पड़े तो उससे मन में जो वृत्ति बनती है, इसी का नाम **सुख** है। जिस चीज से अनुकूलता जितनी अधिक मालूम पड़ती है उससे उतना ही अधिक सुख का अनुभव हो जाता है। इसलिए सुख विषय-सापेक्ष है।

बिना किसी विषय के जहाँ हमें अनुकूलता का, सुख का अनुभव हो वही **आनन्द** है। आप शान्ति से बैठे हैं, मन एकदम शान्त है, कोई वृत्ति नहीं है तब जो भीतर से अनुभव होता है वह आनन्द का अनुभव है। वास्तव में आनन्द ब्रह्म का स्वरूप ही है, इसलिए आनन्द विषय-सापेक्ष नहीं होता।

जो विषय प्राप्त होने पर हमें बड़ा प्रतिकूल मालूम पड़े उससे मन की जो वृत्ति बनती है उसी का नाम **दुःख** है। दुःख और शोक में थोड़ा अन्तर होता है। हमारा कोई प्रिय व्यक्ति या वस्तु चली जाए, उसका हमसे वियोग हो जाए, तब मन की जो वृत्ति बनती है उसका नाम **शोक** है। इसलिए जब किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो उसके लिए जो सभा की जाती है उसे दुःख-सभा नहीं, बल्कि शोक-सभा कहते हैं क्योंकि प्रिय व्यक्ति के वियोग से बहुत शोक हो जाता है।

*****

जिज्ञासा :- संसार में सुखी व्यक्ति कौन है?

समाधान :- जिस व्यक्ति को न कहीं जाना है, न आना है, न कोई इच्छा है, अपने कर्तव्य में लगा है, भजन करता रहता है, जो कुछ हो रहा है सबमें उसे भगवान् की कृपा दीखती है, वही सुखी है। महाभारत में प्रसंग आता है कि यक्ष ने युधिष्ठिर से चार प्रश्न पूछे थे। उसमें से एक प्रश्न यही था

कि संसार में कोई सुखी भी है अथवा सब दुःखी ही हैं। तब युधिष्ठिर ने उत्तर दिया –

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते।।
(महाभारत वन.-३१३.११५)

जो व्यक्ति भजन में लगा रहता है, अधिक धनी नहीं है, भूख लगने पर पत्नी शाक-सब्जी बनाकर खिला देती है, न उसे कोई इच्छा है, न उसे कहीं जाना है और न ही उसका किसी से कोई लेन-देन है, वह सुखी रहता है।

*****

जिज्ञासा :- असम्भूति उपासक प्रकृतिलय को प्राप्त होता है, सुषुप्त पुरुष के समान ही प्रकृतिलय वाले का भी सुख भोग होता है। ईश्वर-सायुज्य-प्राप्त उपासक भी सुख भोग करता है, तब इन दोनों के फलों में अन्तर क्या रहा?

समाधान :- जो उपासक प्रकृति (अव्यक्तात्मा) के साथ तादात्म्य को प्राप्त होता है, उपाधि के अनुसार उसकी स्थिति भी अव्यक्त ही रहेगी। उस अवस्था में सभी दुःखों का अभाव होने से सुख भोग तो होगा, पर वह भोग अव्यक्त होगा। उपाधि व्यक्त न होने से ऐश्वर्य-प्राप्ति नहीं होगी। परन्तु जो उपासक ऐश्वर्यशाली व्यक्त ईश्वर के साथ सायुज्य भाव को प्राप्त होगा वह महद् ऐश्वर्य को प्राप्त करेगा। हिरण्यगर्भ भी ईश्वर ही है, उससे बड़ा ऐश्वर्य किसी का नहीं है, अतएव उसके उपासक को भी महान् ऐश्वर्य प्राप्त होता है। दोनों प्रकार के उपासकों के सुख भोग में यह अन्तर रहेगा।

प्रकृतिलय अवस्था में सुषुप्ति के समान सुख तो है, पर किसी पुरुषार्थ का अवसर नहीं है। ब्रह्मलोक में हिरण्यगर्भ के साथ सायुज्य-प्राप्त उपासक तो क्रममुक्ति के द्वारा परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर सकता है। यह भी एक अन्तर है।

*****

जिज्ञासा :- शास्त्र के अनुसार हिरण्यगर्भ समष्टि सूक्ष्म का अभिमानी है। ऐसी स्थिति में क्या उसका सभी प्राणियों के अन्तःकरण में होनेवाले सुख-दुःख से सम्बन्ध बनता है?

समाधान :- आपके शरीर के एक-एक कण में, रक्त की एक-एक बूँद में सैकड़ों जीवों (जीवाणु आदि) का शरीर है। उनका लड़ना-झगड़ना, पैदाइश, मरना सब कुछ इसमें होता है, इसी में वे दफनाए जाते हैं, इसलिए यह शरीर महाश्मशान है। परन्तु उनके झगड़े से, जीने-मरने से अथवा सुख-दुःख से आपका कोई सम्बन्ध नहीं बनता। समस्या तो अभिमान से ही होती है। उन जीवों का उस शरीर में अभिमान है पर आपका उनके शरीर में अभिमान नहीं है, इसलिए उनके सुख-दुःख का आप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ, उन जीवों का आपसी झगड़ा बहुत बढ़ जाए तो आपके शरीर में भी उसका असर रोगादि के रूप में दीखता है।

इसी प्रकार हिरण्यगर्भ का समष्टि में अभिमान है और हमारा व्यष्टि (अंश) में। अंश में अभिमान करके उसके माध्यम से आप सारा व्यवहार कर रहे हैं, इसलिए वहाँ होनेवाले सुख-दुःख का आप पर असर पड़ता है। परन्तु हिरण्यगर्भ का अंश में अर्थात् आपके सूक्ष्म-शरीर में अभिमान न होने से यहाँ के सुख-दुःख से उसका कोई सम्बन्ध नहीं बनता। जब जीवों का कोई बड़ा सामूहिक भोग आता है, सृष्टि में विक्षोभ बहुत बढ़ जाता है, तब हिरण्यगर्भ के स्थूल-शरीर विराट् में भी उसका असर पड़ता है।

लोगों को यह भी गलतफहमी है कि व्यष्टि सूक्ष्म-शरीर मिलकर हिरण्यगर्भ बनता है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। समष्टि पहले बनता है और व्यष्टि बाद में, इसलिए हमारे सूक्ष्म-शरीर उसके अंश होने पर भी इनमें उसका अभिमान नहीं है। उसका अभिमान तो समष्टि सूक्ष्मभूतों में है। अतः

हमारे अन्तःकरण के सुख-दुःख से वह सुखी-दुःखी नहीं होता।

*****

जिज्ञासा :- आगमशास्त्र में कहा है कि साधक की एक स्थिति ऐसी आती है जिसमें वह सम्पूर्ण विश्व का भोक्ता हो जाता है। ऐसा कैसे हो जाता है? कदाचित् ऐसा अनुभव कर भी ले, तब तो वह सम्पूर्ण विश्व के दुःख का भोक्ता बन जाएगा। इससे उसके लिए बहुत बड़ी समस्या नहीं हो जाएगी?

समाधान :- जो अपने को सम्पूर्ण विश्व के भोक्ता के रूप में अनुभव करता है, उसकी आगमशास्त्र में **वीरेश** संज्ञा होती है। यहाँ भोक्तृत्व का तात्पर्य सामान्य जीवों के समान नहीं समझना चाहिए। वह मात्र अनुभूति करता है कि सम्पूर्ण विश्व मेरा ही ऐश्वर्य है, मेरे में ही कल्पित है। सृष्टि-पालन-संहार इत्यादि सब मेरी ही शक्ति से हो रहे हैं। मेरी शक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस प्रकार का उसका निश्चय हो जाता है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर उसमें कोई भोक्तृत्व नहीं बनता। जैसे प्रजा के सुख और ऐश्वर्य को राजा अपना ही ऐश्वर्य स्वीकार करके सुखी रहता है, प्रजा का ऐश्वर्य तो राजा का ही होता है क्योंकि प्रजा उस राजा से बाहर नहीं है। इसी प्रकार यह **वीरेश** जब किसी को अपने से बाहर नहीं देखता, तो उन सबके भोग का भी वह अनुभव कर लेता है।

इतना होते हुए भी वह अज्ञानियों के समान भोग में लिपायमान नहीं होता - **स्व भुञ्जानो न स्व लिप्यते।** उसके चित्त की स्थिति ऐसी है कि वह सबमें स्व के भोक्तृत्व का अनुभव करते हुए भी उनसे लिपायमान नहीं होता है, लिपायमान होने में हेतु तो कर्तापन है और उसमें कर्तापन का अभाव है। उसमें सामान्य जीवों के समान कर्तापन का भाव नहीं है। इसलिए वहाँ पर लिपायमान होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अब यदि कोई शंका करे कि सबके दुःख का अनुभव यदि उसको हो जाएगा तो बड़ी समस्या हो सकती है। यहाँ

पर इस बात का विचार करना चाहिए कि जिस स्थिति में उसका चित्त है, वहाँ दुःख नाम की कोई वस्तु है क्या! जब उसकी दृष्टि में दुःख है ही नहीं, तो सम्पूर्ण दुःखों का भोक्ता बनेगा ऐसी शंका ही नहीं बनीं।

*****

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः।।
(वाल्मीकि रामायण)

ज्ञानी की स्थिति

जिज्ञासा :- वेदान्त-विचार के द्वारा जिसने ब्रह्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया है, उस महापुरुष की पहचान क्या होती है?

समाधान :- उस महापुरुष की पहचान यही हो सकती है कि उसे कभी-भी संशय नहीं होता और न कभी कार्यकरणसंघात (शरीर) में अभिमान ही होता है। पर इसे दूसरा जानेगा कैसे! जब तक उसके मन को नहीं जान सकता, तब तक व्यक्ति उसके सामान्य व्यवहार को भी नहीं समझ सकता है। जहाँ भी शास्त्रों में ज्ञानी की पहचान अर्थात् लक्षण बताए गए हैं, वे साधक को अपने अन्दर लाने के लिए बताए गए हैं, ज्ञानी की परीक्षा के लिए नहीं। ज्ञानी का जो स्वभाव होता है वही साधक के लिए प्रयत्नसाध्य साधन होता है। लक्षण मात्र से ज्ञानी को कोई नहीं पहचान सकता क्योंकि आपको तो पार्ट ही दीखेगा।

जनकादि ज्ञानी होने पर भी युद्ध करते थे, चोरों को मृत्यु-दण्ड भी देते थे। ऐसे व्यवहार को देखकर आप उन्हें कैसे ज्ञानी समझेंगे! जो सदा कामनापूर्वक व्यवहार करनेवाला अज्ञानी है वह इस बात को समझ ही नहीं सकता कि निष्काम भी कोई व्यवहार होता है।

यस्य सर्वेसमारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः... (गीता-४.१९)

इसे सामान्य व्यक्ति कैसे समझेगा! जिसका किसी व्यवहार से, किसी क्रिया से, किसी भी रूप-रस-गंध इत्यादि से सम्बन्ध ही नहीं है, उसे कैसे पहचानेंगे! जब व्यक्ति सामान्य साधक के व्यवहार को ही नहीं समझ सकता है, फिर सिद्ध के व्यवहार को क्या समझेगा! ज्ञानी का कोई लक्षण नहीं हो सकता है। इसलिए साधक को चाहिए कि पहचानने का प्रयास छोड़कर शास्त्रों में कहे गए ज्ञानी के लक्षणों को अपने जीवन में

धारित करने का प्रयास करे।

*****

जिज्ञासा :- क्या ज्ञानी को जाग्रदादि अवस्थाओं का भान होता है, यदि होता है तो किस प्रकार से?

समाधान :- एक तुरीय तत्त्व में ही जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाएँ कल्पित हैं। इन कल्पित अवस्थाओं के साथ तादात्म्य करने से जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों का भोग अलग-अलग हो जाता है। इस स्थूल-शरीर के साथ तादात्म्य करने से जाग्रत में स्थूल भोग हो जाता है। स्वप्न के शरीर के साथ तादात्म्य कर लिया तो सूक्ष्म भोग हो जाता है और सुषुप्ति अर्थात् कारण के साथ तादात्म्य किया तो आनन्द का भोग हो जाता है। इस प्रकार अज्ञानी के लिए तीनों अवस्थाओं में भोग अलग-अलग बनते हैं।

ज्ञानी को भी इन अवस्थाओं का भान तो होता है, परन्तु उसे सभी जगह एक स्वरूपानन्द का ही भोग होता है -

जाग्रतस्वप्नसुषुप्तिभेदेऽपि तुर्याभोगसंवित् (शिवसूत्र-१.७)

ज्ञानी को जाग्रदादि का सारा भेद-व्यवहार दीखने पर भी उसे सर्वत्र तुरीय का ही भान होता है। इसलिए जो उसका स्वरूपभूत आनन्द है उसी में वह प्रतिष्ठित रहता है। जाग्रदादि का व्यवहार चलते रहने पर भी उसे कोई बाधा या विक्षेप नहीं पहुँचा पाता।

*****

जिज्ञासा :- क्या ज्ञानी को भी दुनिया की समस्याओं को लेकर चिन्ता और विक्षेप हो सकता है?

समाधान :-शास्त्र कहता है –

ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति ... (मुण्डक उप.-३.२.९)

ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप ही हो जाता है। यदि ब्रह्म को चिन्ता हो सकती है तो ज्ञानी को भी हो सकती है और ब्रह्म को चिन्ता नहीं हो सकती तो ज्ञानी को कैसे होगी! दूसरी बात यह विचारणीय है कि ज्ञानी को किसी शरीर में अहंता-ममता रहेगी या नहीं? **अहं ममेति संसारः**, अहंता और ममता यही संसार है जो अज्ञान से होता है। जिसे आप ज्ञानी कहते हैं उसमें अज्ञान रहना तो सम्भव नहीं। इसलिए किसी शरीर में अहंता-ममता भी ज्ञानी को हो नहीं सकती। जिस शरीर में आपको चिन्ता या समस्या दिखाई दे रही है उसकी दृष्टि से वह शरीर उसका है ही नहीं, इसलिए चिन्ता से ज्ञानी का कोई सम्बन्ध बन नहीं सकता।

तीसरी बात, गीता में कहा गया है –

हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ... (१८.१७),

ज्ञानी का किसी भी कर्म अथवा उसके फल के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बनता। इन तीनों दृष्टियों से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि ज्ञानी को चिन्ता या विक्षेप कभी नहीं हो सकता। चिन्ता-विक्षेप अज्ञान के कार्य हैं, ज्ञान होने पर उनका रहना सम्भव नहीं।

*****

जिज्ञासा :- प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ...(गीता-१४.२२) यहाँ पर भगवान् ने कहा ज्ञानी पुरुष में प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह इत्यादि उत्पन्न होने पर भी वह उनसे द्वेष नहीं करता। क्या ज्ञानी पुरुष में भी मोह उत्पन्न हो सकता है?

समाधान :- गीता में यह श्लोक गुणातीत पुरुष के लक्षण के प्रकरण में आया है। ज्ञानी होने पर भी उसके शरीर, मन आदि तो रहेंगे ही और ये त्रिगुणों के कार्य हैं। त्रिगुणों में तो ऊपर-नीचे होता ही रहता है। सत्त्वगुण बढ़ेगा तो मन में प्रकाश होगा, रजोगुण आने पर प्रवृत्ति हो सकती है और तमोगुण आने पर उसका भी कुछ प्रभाव अन्तःकरण में दीख सकता है। पर

ऐसा होने पर भी ज्ञानी मोह से मोहित नहीं होता। मोह का मन में दीखना अलग बात है और उससे मोहित हो जाना अलग बात है।

इसलिए इसी श्लोक में आगे भगवान् ने कहा है -

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति (१४.२२)

मन में प्रवृत्ति या मोह किसी के भी आने पर न तो वह उनसे द्वेष करता है और न ही चाहता है कि हमको ये आएँ। वह जानता है कि आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है और प्रकृति में तो यह खेल लगा ही रहेगा। ऐसा समझकर वह त्रिगुणों के कार्यों से बिल्कुल भी प्रभावित नहीं होता।

*****

जिज्ञासा :- जीवनमुक्त पुरुषों का विलक्षण सुख कैसा होता है? उन्हें यह सुख समाधि में मिलता है अथवा व्यवहार में भी बना रहता है?

समाधान :- आप स्वयं जीवनमुक्त होकर देखिए, तब आपको उस सुख का अनुभव होगा। हमारे कहने से कैसे हो जाएगा! इतना समझ लीजिए कि जीवनमुक्ति में न कोई समस्या है और न संशय। ज्ञान गलत होने से ही सारी समस्याएँ रहती हैं। मुक्त पुरुष को ठीक ज्ञान होने से वे समस्याएँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं। कोई व्यक्ति स्वप्न में भटककर बड़ा दुःखी हो रहा हो, आपको उसके स्वप्न का सर्वज्ञ बना दें तब वह भले ही रोता रहे, आपको तो हँसी ही आएगी। आपकी बुद्धि के अनुसार वहाँ कोई समस्या ही नहीं है। इसी प्रकार मुक्त पुरुष की बुद्धि में किसी समस्या का अस्तित्व नहीं रहता।

तुलसीदासजी मानस में कहते हैं –

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।।
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।।
(अयोध्या- ९२.२,३)

योगदर्शन के अनुसार भी समाधि अवस्था में तो कोई समस्या नहीं रहती, वहाँ चित्त निरुद्ध रहता है। परन्तु व्युत्थान दशा में जगत् का सत्यरूप से

भान होने के कारण समस्या आ ही जाती है। परन्तु वेदान्त के अनुसार जो जीवन्मुक्ति है उसका सुख समाधि हो चाहे व्यवहार, सभी दशाओं में समान रूप से बना रहता है। जीवन्मुक्त की दृष्टि में जगत् का सत्यरूप से भान होता ही नहीं, इसलिए उसे व्यवहार में भी आनन्द ही बना रहता है।

*****

जिज्ञासा :- जो महापुरुष विदेहमुक्त हो गए हैं उनसे भी उनके भक्तों को दिशा-निर्देश, उपदेशादि मिलते रहते हैं, यह कैसे सम्भव होता है?

समाधान :- शास्त्रों में सामान्यतः यही बात प्रसिद्ध है कि विदेहमुक्त पुरुष ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, उनका सूक्ष्म-शरीर भी अपने कारण में लय को प्राप्त होता है, अतः उनसे उपदेश मिलने की बात उचित नहीं लगती। परन्तु एक अच्छे महात्मा ने हमें बताया था कि ऐसे पुरुषों के व्यक्तित्व का एक ऐसा अस्तित्व व्यापक चेतन में कल्पपर्यन्त रहता है जिससे सम्बन्ध करके व्यक्ति बहुत लाभ ले सकता है। हमें उनकी बात इसलिए जँची कि चेतन में कोई भी संकल्पात्मक गठन हो जाए तो उससे काम सिद्ध हो सकता है। चेतन में मात्र संकल्प की दृढ़ता ही तो जीवभाव है अन्यथा जीव तो उत्पन्न होता ही नहीं। इसलिए विदेहमुक्त पुरुषों से उपदेश मिलता है इस विषय में हमें कोई विरोध नहीं दीखता।

*****

जिज्ञासा :- हंस और परमहंस में क्या भेद है?

समाधान :- जो जड़-चेतन का विवेक करे उसका नाम हंस है और जिसकी दृष्टि में जड़ रहे ही नहीं, केवल चेतन ही चेतन हो वह परमहंस है।

*****

जिज्ञासा :- क्या ज्ञानी को भी स्वप्न आता है? यदि आता है तो इसमें हेतु क्या है?

समाधान :- ज्ञानी को भी स्वप्न आ सकता है, पर उसका जैसे जाग्रत

के साथ सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही स्वप्न के साथ भी नहीं रहता है। इसलिए स्वप्न न आना कोई ज्ञान का लक्षण नहीं है। ज्ञान का लक्षण अज्ञान की निवृत्ति है। कई बार किसी बीमारी के कारण भी स्वप्न आना बन्द हो जाता है। स्वप्न आने में मात्र संस्कार ही कारण नहीं हैं, शरीरगत वात, पित्त, कफ इत्यादि की विषमता से भी स्वप्न आ जाता है और कई बार आगामी घटनाओं के सूचक रूप में भी स्वप्न होता है। यदि संस्कार से भी ज्ञानी को स्वप्न आता है, तब भी कोई विरोध नहीं है क्योंकि जब तक शरीर चलता है तब तक अन्तःकरण में सूक्ष्म संस्कारों को तो मानना ही पड़ता है, भले ही ज्ञानी का उनसे सम्बन्ध न बने।

*****

जिज्ञासा :- जो ज्ञानी योगमार्ग वाले हैं, उनके पास तो सिद्धियाँ रहती हैं पर जो विचारमार्ग और भक्तिमार्ग वाले ज्ञानी हैं, उनके पास तो सिद्धियाँ होना आवश्यक नहीं है। उनकी सेवा करनेवालों को वे क्या कोई सिद्धि दे सकते हैं?

समाधान :- उपनिषद् में ज्ञानी के विषय में कहा है -

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः।।
(मुण्डक-३.१.१०)

ज्ञानी पुरुष जिस लोक का मन से संकल्प करता है या किसी वस्तु की इच्छा करता है वह उसे प्राप्त कर लेता है। इसलिए ऐश्वर्य चाहनेवाले को चाहिए कि वह ज्ञानी-महापुरुषों की पूजा-सेवा करे।

इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी में सामर्थ्य है, चाहे वह संकल्प न करे तो भी उसके अन्दर वह शक्ति है जिससे उसकी सेवा करनेवाले का काम होगा ही। इसी प्रकार उसका अपमान करनेवाले के प्रति भी वह चाहे कोई

संकल्प न करे, पर अपमानकर्ता का अनिष्ट हो ही जाएगा। इस बात में किसी प्रकार का संशय नहीं है क्योंकि विचारमार्ग वाले ज्ञानी ने भी संयम किया है, उसकी तपस्या कम नहीं है। यह अलग बात है कि उसकी शक्ति का विनियोग ज्ञानप्राप्ति में हुआ है, पर वह शक्ति उसमें आज भी है, उससे कहीं दूर नहीं गई है। अब सिद्धि का इसके लिए कोई महत्व नहीं रहा, तो क्यों संकल्प करेगा! पर उसके संकल्प को कोई काट नहीं सकता।

*****

जिज्ञासा :- भगवान् ने गीता में कहा है - **प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ... (२.५५)।** यहाँ पर कहा कि वह स्थितप्रज्ञ पुरुष कामनाओं को त्याग देता है। ऐसे में वह निठल्ला तो नहीं हो जाएगा?

समाधान :- कामनाओं के त्यागने का तात्पर्य यहाँ जगत् की कामनाओं से है, ईश्वर-दर्शन की कामना त्याग देता है, ऐसी बात नहीं है। जगत् की कामनाएँ इसलिए त्याग देता है कि इनके रहते हुए बुद्धि स्थिर नहीं रह सकती। इदं मे स्यात्, इदं मे स्यात् ऐसे में बुद्धि स्थिर कैसे रह सकती है! जगत् की कामना तो सुबह से शाम तक बदलती ही रहती है। इसलिए इनके रहते हुए कोई मुक्त होना नहीं चाहता क्योंकि भोग चाहिए तो शरीर भी चाहिए। पर जगत् की कामना टूटते ही बुद्धि स्थिर हो जाती है। अब केवल बिगड़ी हुई आदत को सुधारने का ही प्रयास रहता है और भगवद्दर्शन की कामना को प्रबल करता जाता है। इसलिए यहाँ पर निठल्ला बनने का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है।

*****

लोकव्यवहार

जिज्ञासा :- क्या हम व्यवहार में सौ प्रतिशत सचाई से रह सकते हैं?

समाधान :- यदि कोई सचाई को महत्व देता है तो वह अवश्य रह सकता है। सचाई से अधिक महत्व व्यवहार को देगा तो नहीं रह पाएगा। आपके सामने दो चीजें हैं - **सचाई और व्यवहार।** सचाई कल्याण करनेवाली है, वह **श्रेय** है। व्यवहार से हमारा लौकिक काम चलता है, वह **प्रेय** है। आप श्रेय का वरण करते हैं या प्रेय का, यह आप पर निर्भर है। यदि आपने सचाई का वरण किया तो सत्य आपकी रक्षा करेगा। यदि आप सचाई से अधिक व्यवहार को मानते हैं तो सत्य कैसे रक्षा करेगा?

उपनिषदों में ऐसे उदाहरण आते हैं : एक व्यक्ति को चोरी के आरोप में पकड़कर राजा के सामने लाया जाता है। राजा के पूछने पर वह कहता है कि मैंने चोरी नहीं की। निर्णय करने के लिए उसके हाथ में लोहे की गरम छड़ दी जाती थी। यदि वह सत्यवादी होता तो सत्य उसकी रक्षा कर लेता था। उसका हाथ जलता नहीं था और वह मुक्त हो जाता था। यदि वह झूठ बोला होता तो उसका हाथ भी जल जाता और जेल भी जाना पड़ता था।

प्रश्न यह उठता है कि व्यक्ति व्यवहार चलाना चाहता है अथवा सत्य पर आरूढ़ होना चाहता है। वह व्यवहार चलाने की चिन्ता में रहेगा तो उसके जीवन में सत्य का महत्व कम हो जाएगा। यदि चिन्ता न करें तो भी व्यवहार चलता रहता है। पहले यहाँ आश्रम में अकोला से एक भक्त आते थे। वे आश्रम का पानी तक नहीं पीते थे, किसी सम्बन्धी के यहाँ जाते तो भी कुछ खाते-पीते नहीं थे। अपने घर का ही अन्न-जल लेना - ऐसा उनका नियम था। लोग उनसे कहते कि तुम किसी के यहाँ पानी नहीं पीओगे तो तुमसे सम्बन्ध कौन करेगा, तुम्हारी कन्याओं का विवाह कैसे होगा? वे

कहते कि कन्याएँ आई हैं तो उनका विवाह भी होगा, पर मैं अपना नियम किसी भी हालत में नहीं छोड़ूँगा। बाद में उनकी सब कन्याओं का विवाह भी हुआ, बड़े अच्छे सम्बन्धी उन्हें मिले। हमने भी आश्रम के लिए बहुत व्यवहार किया, पर कभी भी झूठ नहीं बोला। आप भी **श्रेय को प्रेय से अधिक महत्व देंगे** तो ऐसा कर सकते हैं।

*****

जिज्ञासा :- साधु बनने के पहले किसी को कोई वचन दिया हो तो क्या उसे पूरा करना चाहिए?

समाधान :- वचन किस प्रकार का दिया है, क्या वह साधु के अधिकार-क्षेत्र में आता है? यदि नहीं आता है तो साधु उसे कैसे पूर्ण करेगा? जैसे एक कलेक्टर ने आज आपसे कहा कि आपका यह काम हम कर देंगे। अगले ही दिन उसका तबादला हो जाए और वह दूसरी जगह चला जाए तो आपका काम कैसे करेगा? उसे पूरा करने के लिए वापस तो नहीं आ सकता। उसका अब यहाँ से सम्बन्ध ही नहीं रहा। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने घर छोड़ दिया, साधु बन गया, उसका वहाँ से सम्बन्ध ही नहीं रहा। जब वहाँ के व्यक्तियों से सम्बन्ध ही टूट गया तो वचन पूरा कैसे करेगा! यह सब बातें सम्बन्ध में होती हैं, असम्बन्ध में नहीं।

*****

जिज्ञासा :- सरल और निष्कपट जीवन कैसे सम्भव है?

समाधान :- आप कुटिलता और कपट छोड़ दीजिए तो सम्भव हो जाएगा। ये सब आपके जीवन के आवश्यक अङ्ग तो हैं नहीं और न ही आपका स्वभाव है। इस बात को ध्यान में रखिए कि कपट करना, कुटिलता या चालाकी किसी का स्वभाव नहीं है, इनके लिए कोई निमित्त चाहिए। दूसरी ओर निष्कपटता और सरलता आपका स्वभाव है,

निर्निमित्तक है। किसी को भी कपट प्रिय नहीं है, इसलिए हमारे साथ कोई कपट का व्यवहार करता है तो हमें अच्छा नहीं लगता। फिर हम दूसरे से वैसा व्यवहार क्यों करें!

किसी लोभ से ही आप कपट या चालाकी का व्यवहार करते हैं, लोभ में न आएँ तो इनसे बचे रहेंगे। आपका जीवन स्वभाव से तो सरल ही है, परन्तु जगत् के विषयों के सङ्ग से जटिल हो गया है। अपने बालकपन की सरलता को आप याद कीजिए! सरलता, निष्कपटता, श्रद्धा, विश्वास ये सब आपको जन्मजात मिलते हैं। इसलिए अपने स्वाभाविक जीवन में जब आप जीने लगेंगे तो सरलता आदि स्वतः ही आपमें आ जाएँगे। जब तक आप दिखावटी जीवन में जीते हैं तब तक तो ये दोष बने ही रहेंगे।

*****

जिज्ञासा :- हम बालक लोग तेजस्वी कैसे बनें तथा हमें सद् एवं तीव्र बुद्धि कैसे प्राप्त हो ?

समाधान :- तेजस्विता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को चरित्रवान् होना चाहिए, अन्दर से बलवान् होना चाहिए, तभी वास्तविक आन्तरिक तेज प्राप्त होगा। चेहरे या शरीर का तेज वास्तविक तेज नहीं है। आजकल तो वातावरण रजोगुणी-तमोगुणी है, जो व्यक्ति शास्त्र से उल्टा चलता है, वही बाहर से तेजस्वी दीखता है, परन्तु वास्तविक तेज तो सच्चरित्र से ही आता है। जिसके जीवन में सदाचार होगा, यम-नियम का पालन होगा उसकी बुद्धि सद् होगी।

बुद्धि तीव्र हो इसके लिए बड़ों की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। बड़ों के आशीर्वाद से ही तीव्र बुद्धि मिलती है। आज का बालक आशीर्वाद के महत्व को नहीं समझता। तुम चाहे लाख रुपये महीना कमाओ, तब भी सुखी नहीं हो सकते, यदि तुम्हारे पास बड़ों का

आशीर्वाद नहीं है। बड़ों की सेवा करके उन्हें प्रसन्न करने पर जब उनका आशीर्वाद प्राप्त होगा तो तुम्हारे पास बल भी आएगा और बुद्धि भी तीव्र हो जाएगी। शास्त्र में भी कहा है-

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्।।

(मनुस्मृति-२.१२१)

जिसका वृद्धों को प्रणाम करने और उनकी सेवा करने का स्वभाव है, उसकी आयु, विद्या, बल और यश ये सभी बढ़ते हैं। ब्रह्मचर्य आदि का पालन करने से भी बुद्धि तेज होती है। प्रातःकाल सूर्योदय से पहले उठकर थोड़ा भगवन्नाम का जप और ध्यान भी करना चाहिए। ये सब बुद्धि को तीव्र करने के उपाय हैं।

*****

जिज्ञासा :- व्यवहार में कभी लोग हमें अच्छा समझते हैं, कभी खराब तो कभी उपेक्षा भी करते हैं। ऐसे तीन पक्ष उपस्थित हो जाते हैं। इससे मन में विक्षेप हो तो क्या करें ?

समाधान :- कितने ही पक्ष उपस्थित हो जाएँ, यदि आप मननशील हैं, आपके मन में वह पक्ष गृहीत न हो तो आपका क्या बिगड़ेगा! एक बार जाड़े के मौसम में एक फकीर खुले में सोया हुआ था। सुबह-सुबह कोई सज्जन टहलने गए तो उनके मन में आया कि देखो इतनी ठण्ड में यह फकीर खुले में लेटा है, ठण्ड सहन कर रहा है। हमें ठण्ड लगती है तो इसे भी लगती होगी। उन्होंने जो कीमती शॉल पहना था, उसे ही फकीर को ओढ़ा दिया। फकीर ने कहा - तेरा भला हो। वह व्यक्ति चला गया। कुछ देर बाद एक दूसरा व्यक्ति आया तो उसने सोचा कि इस भिखमंगे के ऊपर इतना कीमती शॉल किस बेवकूफ ने फेंक दिया है। उसने वह शॉल खींच लिया, तब भी

फकीर ने कहा - तेरा भला हो।

इसी प्रकार से यदि आप मननशील हैं, बहिर्मुख नहीं हैं, समता में रहते हैं तो वे पक्ष आते रहेंगे, उनसे आपको क्या फर्क पड़ेगा! भगवान् ने जीव को अल्पज्ञ बना दिया है, इसलिए लोग आपके मन को तो जानते नहीं, उनकी जैसी रजोगुणी या तमोगुणी वृत्ति होती है उसी के अनुसार आपके विषय में अनुमान करते हैं। अनुमान से कभी आपको अच्छा तो कभी खराब समझ सकते हैं अथवा उपेक्षा भी कर सकते हैं। साधक को यही समझना चाहिए कि गुणों के कारण ये तीनों वृत्तियाँ आती हैं, उनसे हमारा क्या बिगड़ता है! उसे अपने मन को नहीं बिगड़ने देना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- व्यक्ति को भविष्य की चिन्ता करनी चाहिए या वर्तमान की?

समाधान :- एक सिद्धान्त है कि व्यक्ति भूत का स्मरण न करे और भविष्य की चिन्ता भी न करे, वर्तमान का सावधान होकर सदुपयोग करे। वर्तमान में यदि व्यक्ति पूर्ण सावधान है तो भूत को भी बना लेता है और भविष्य को भी क्योंकि जो कुछ भी पुरुषार्थ होगा, वह वर्तमान में ही होगा। वही भूत को सुधारेगा और भविष्य को तो वर्तमान होकर आना ही है।

*****

जिज्ञासा :- आजकल कुछ लोग कन्याओं के द्वारा माता, पिता और साधु को प्रणाम करना वर्जित करते हैं। क्या यह शास्त्रीय है?

समाधान :- कन्याओं के द्वारा प्रणाम करना इसलिए वर्जित करते हैं कि उनको दुर्गा के रूप में पूजते हैं। कन्या को साक्षात् देवीस्वरूप मानते हैं, ऐसी बहुत जगह प्रथा है। पर इतना होने पर भी शास्त्रों में तो साधु को प्रणाम करना कन्या के लिए निषिद्ध नहीं है। शिवपुराण में कथा है कि नारदजी के

पास हिमालय अपनी पुत्री पार्वती को ले जाता है तो नारदजी को पार्वती प्रणाम करती है। इस प्रकार और भी बहुत-सी कथाएँ आती हैं कि कन्याओं ने माता, पिता और सन्तों को प्रणाम किया है। अतः शास्त्रों में बड़ों को प्रणाम करना निषिद्ध नहीं है। इसलिए यदि कहीं की ऐसी परम्परा है कि कन्या प्रणाम न करे तो वह चरणस्पर्श भले न करे, पर प्रणाम करने में कोई हर्ज नहीं है, बल्कि लाभ ही है।

*****

जिज्ञासा :- आपके आश्रम में निवास करनेवाले महात्मा आश्रम की सेवाएँ करते हैं। आजकल अन्य आश्रमों में प्रायः ऐसा नहीं देखा जाता। आपने ऐसी कौन-सी युक्ति अपनाई जिससे यहाँ ऐसी परम्परा चली?

समाधान :- युक्ति तो नहीं पर मैंने एक दृष्टि अपनाई जो अन्त तक नहीं बदली। मेरा हमेशा से एक ही निश्चय रहा कि आश्रम माँ नर्मदा का है और इसके बनने में संकल्प महाराजश्री (पूज्य स्वामी अभयानन्दजी) का है। नर्मदा जिसको रखेगी वह यहाँ रहकर साधना करेगा, जिसको नहीं रखेगी वह नहीं रह सकेगा। इसलिए मैंने कभी किसी वृद्ध या बीमार साधु को भी आश्रम का भार समझकर उन्हें जाने के लिए नहीं कहा, पर कोई साधु एकान्त में भजन करने के लिए जाना चाहता था तो उसे स्वार्थ के कारण रोका भी नहीं। मैंने आश्रम में रहनेवाले साधुओं में यह भेद नहीं रखा कि वह बाहर का है और यह यहाँ का है। इसलिए यहाँ रहनेवाले साधु भी इस आश्रम को नर्मदा का आश्रम समझकर यहाँ की हर सेवा में अपना हाथ बँटाते रहते हैं।

*****

विविध

जिज्ञासा :- भोजन के समय आश्रम में जो भी आए उसे भोजन देना अनिवार्य है क्या?

समाधान :- बृहदारण्यक उपनिषद् के सप्तान्न ब्राह्मण में ऐसा कहा गया है कि जो भोजन पककर तैयार होता है वह साधारण अन्न है, उसपर सभी का अधिकार है। ऐसा होने पर भी आश्रमों में कुछ व्यवस्था रखनी पड़ती है। हमने बहुत जगह आश्रमों और अन्नक्षेत्रों में यह व्यवस्था देखी है कि बाहर से आए भूखे लोगों को भोजन जरूर देते हैं, परन्तु स्थानीय लोगों को नहीं देते। स्थानीय लोग दूसरी दृष्टि से आते हैं। दिनभर चाहे जहाँ घूमते रहेंगे, कुछ भी करेंगे, पर भोजन के समय आश्रम में पहुँच जाएँगे। ऐसे लोगों को भोजन नहीं देना चाहिए क्योंकि वे इस सुविधा का दुरुपयोग करते हैं। स्वयं कुछ काम करके पैसे कमाएँगे, भोजन आश्रम में कर लेंगे तो उस पैसे से शराब पीएँगे, जूआ खेलेंगे। इसमें उनका ही नुकसान है।

भूखे को, अतिथि को अन्न मिले इसके लिए यह व्यवस्था है, लोगों को मूर्ख और कामचोर बनाने के लिए शास्त्र नहीं कहता। इसलिए कोई साधु-ब्रह्मचारी आ जाए या बाहर से कोई भूखा यात्री आ जाए तो उसे भोजन अवश्य देना चाहिए, परन्तु स्थानीय व्यक्ति को नहीं। पहचानने में कभी-कभी कठिनाई भी आती है परन्तु दृष्टि ठीक रहे तो भगवान् प्रेरणा दे देता है।

*****

जिज्ञासा :- क्षमादान कब तक उचित है? साधु और गृहस्थ की क्षमा के स्वरूप में क्या भेद है?

समाधान :- व्यक्ति जहाँ भी है, वहाँ शास्त्र के द्वारा उसको एक

कर्तव्य बताया गया है। कुछ लोगों के लिए क्षमा कर्तव्य है तो बहुत-से लोगों का कर्तव्य यह भी है कि अन्याय के विरुद्ध लड़ते-लड़ते मर जाना चाहिए, पर अन्याय के सामने झुकना नहीं चाहिए। चारे या डण्डे से तो पशु झुकता है, वीर और विद्वान् नहीं झुकते। जिस व्यक्ति का यह प्रश्न है उसे अपने बारे में विचार करना चाहिए कि मैं क्षमा कर सकता हूँ या नहीं। यदि नहीं कर सकता तो उसे अन्याय के नाश में पूर्ण शक्ति से लग जाना चाहिए। तब उसे अपने आप अनुभव हो जाएगा कि कहाँ क्षमा करना पड़ता है और कहाँ नहीं।

साधु का तो सहने का ही पार्ट है। संन्यासी संन्यास धारण करते समय जल में खड़ा होकर प्रतिज्ञा करता है -

अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्व प्रवर्तते (नारदपरिव्राजकोपनिषद्-४.३७)

वह सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान देने का व्रत इस प्रकार लेता है कि कोई भी प्राणी मेरे प्रति कैसा भी व्यवहार कर सकता है, मेरी ओर से उसको भय नहीं होगा क्योंकि मैं सर्वात्मभाव का उपासक हूँ। इसलिए उसकी सहनशीलता एवं क्षमा का रूप अलग ही प्रकार का होगा। गृहस्थ में भी जिसका अपने वर्णादि के अनुसार जैसा-जैसा कर्तव्य है, उसके अनुसार ही उसकी क्षमा का स्वरूप होता है।

*****

जिज्ञासा :- प्राचीन काल में स्त्रियाँ गुरुकुल में पढ़ती थीं या नहीं? यदि नहीं तो गार्गी जैसी स्त्रियाँ विदुषी कैसे हुईं?

समाधान :- शास्त्रों में तो ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो किस्त्रियाँ गुरुकुल में पढ़ती थीं। इसकी आवश्यकता भी नहीं समझी जाती थी क्योंकि शास्त्र के अनुसार एक युवक समावर्तन-संस्कार तक गुरुकुल में अध्ययन करके जितना पुण्य और शास्त्रीय अधिकार अर्जित

करता है उसका आधा भाग विवाह होते ही उसकी होनेवाली धर्मपत्नी को प्राप्त होता है। पुरुष उसके बिना यज्ञ नहीं कर सकता। यज्ञ में वह बैठती है तो वैदिक मन्त्रों को सुनती ही है। यज्ञ में एक अंग होता है - **आज्यावेक्षण**, उसमें पत्नी के देखने मात्र से ही यज्ञ सामग्री की शुद्धि हो जाती है। स्त्री का वैदिक यज्ञों में इतना महत्व और अधिकार है। अतः शास्त्र में स्त्रियाँ को किसी प्रकार पुरुषों से हीन नहीं समझा गया है।

यदि कहो कि उन्हें पढ़ने का अधिकार क्यों नहीं दिया गया तो समझना चाहिए कि शास्त्र बहुत व्यावहारिक है। आजकल लड़कियाँ बहुत पढ़ रही हैं, नौकरी कर रही हैं, यह अच्छी बात है, परन्तु इस विषय में कुछ बातें विचारणीय हैं। आज घरों में क्या स्थिति बन रही है, पति-पत्नी के सम्बन्धों में कैसी समस्या आ रही है, बच्चों की सम्भाल कैसी हो रही है, घरों में भोजन कैसा बन रहा है, लोग घर छोड़कर होटलों में भोजन कर रहे हैं। ये सब उन्नति है या अवनति यह विचारणीय प्रश्न है। यही सब सोचकर शास्त्र में स्त्री के पढ़ने का निषेध किया गया था।

गार्गी के विषय में कहें तो एक-दो दृष्टान्त देकर आप कोई नियम नहीं बना सकते। कुछ वर्ष पहले हमने दक्षिण भारत में एक चार वर्षीय कन्या को व्याकरण-महाभाष्य पर बोलते देखा। आज कुछ लड़कियाँ बहुत छोटी उम्र में भागवत-कथा कर रही हैं। यह सब एक जन्म के संस्कार से नहीं होता है, ऐसे लोगों में पूर्वजन्मों के संस्कार प्रकट हो जाते हैं। इसलिए गार्गी आदि अपवाद हैं, उनके उदाहरण से आप कोई नियम नहीं बना सकते।

*****

जिज्ञासा :- श्रद्धा और विश्वास में क्या अन्तर है?

समाधान :- श्रद्धा में भी विश्वास ही प्रधान है। जब विश्वास का

सम्बन्ध किसी विशिष्ट से, पूज्य से बनता है तो उसी का नाम श्रद्धा हो जाता है और सामान्य सम्बन्ध में जहाँ दूसरे पर भरोसा करते हैं तो उसका नाम विश्वास होता है। स्त्री के प्रति विश्वास होता है, श्रद्धा नहीं, पर विश्वास जब गुरु के प्रति होता है तो उसके लिए श्रद्धा शब्द का प्रयोग होता है।

जिज्ञासा :- स्वप्न की सारी सामग्री मन ही है और मन को पाञ्चभौतिक कार्य कहा है, तो स्वप्न की सामग्री भी पाञ्चभौतिक ही हुई। फिर जाग्रत की पाञ्चभौतिक सामग्री और स्वप्न की पाञ्चभौतिक सामग्री में क्या भेद है?

समाधान :- हाँ, मन पाञ्चभौतिक है और स्वप्न की सामग्री भी पाञ्चभौतिक ही है, परन्तु पाञ्चभौतिक भी दो प्रकार के हैं। एक सूक्ष्म पाञ्चभौतिक के द्वारा उत्पन्न और दूसरा स्थूल पञ्चमहाभूत के द्वारा उत्पन्न। जो जाग्रत के शरीरादि बाह्य पदार्थ दिखाई देते हैं ये स्थूल पञ्चमहाभूत के कार्य हैं, परन्तु जो स्वप्न में पदार्थ दिखाई देते हैं, वे सब सूक्ष्म पञ्चमहाभूत के कार्य होते हैं क्योंकि वे मनरूप होते हैं और मन सूक्ष्म पञ्चमहाभूत का कार्य है। दोनों में इतना ही अन्तर है।

*****

जिज्ञासा :- अर्पण और समर्पण शब्दों में तात्त्विक अन्तर क्या है?

समाधान :- अर्पण शब्द ही सम् उपसर्ग लगाने पर समर्पण शब्द बना है। सम् का अर्थ है - सम्यक्। अर्थात् अर्पण शब्द के साथ में सम् लगने पर भावपूर्वक अर्पण करना हो जाता है। कई बार अर्पण तो ऐसे ही हो जाता है, पर वहाँ भाव नहीं रहता, मात्र ऊपर-ऊपर से बोल दिया जाता है, वहाँ श्रद्धा और भाव का वजन नहीं रहता। जैसे, शिवमहिम्नःस्तोत्र में

भक्तिश्रद्धाभरगुरु ...(१०), भक्ति और श्रद्धा के भार से युक्त समर्पण की बात आती है।

*****

जिज्ञासा :- भगवन्! मैं भी अन्य लोगों के बराबर ही पढ़ती हूँ, फिर भी मुझे आशा के अनुरूप फल नहीं मिलता। ऐसा क्यों होता है?

समाधान :- मान लो किसी व्यक्ति ने एक विषय को बहुत अच्छे ढंग से पढ़ा और फिर सो गया। सोने में तो सब भूल जाता है, पर अगले दिन जगने पर पढ़ा हुआ काम देता है या नहीं? इसी प्रकार पिछले जन्म में जिसने कोई अभ्यास किया है वह अभ्यास इस जन्म में भी काम देता है। किसी ने पूर्व जन्म में बहुत अध्ययन किया है, उसकी बुद्धि संस्कारित है तो इस जन्म में वह सूक्ष्म विषयों को जल्दी गृहीत कर लेता है और जिसने पिछले जन्म में ऐसा अभ्यास नहीं किया उसे इस जन्म में बहुत अधिक पुरुषार्थ करना पड़ता है। तुम्हें समझना चाहिए कि अपने प्रतिबन्ध को दूर करने के लिए जितना पढ़ना चाहिए उतना हम नहीं पढ़ पा रहे हैं।

दूसरी बात यह है कि व्यक्ति कितनी एकाग्रता से पढ़ता है इसका बहुत महत्व होता है। किताब लेकर बैठे रहने का नाम तो पढ़ना नहीं होता। जितनी देर बैठे रहो उतनी देर तुम्हारा मन पूर्ण रूप से पढ़ने में लगना चाहिए। यदि एकाग्रता नहीं है तो न ठीक से समझ में आता है और न ही याद रहता है।

तीसरी बात यह है कि आजकल के विद्यार्थी प्रायः रात को पढ़ते हैं। पढ़ने के बाद सो जाते हैं तो पढ़ा हुआ जल्दी भूल जाता है। यदि रात को जल्दी सोकर प्रातःकाल जल्दी उठ जाए और पढ़ाई करे तो उसके बाद दिन भर जागता रहेगा। ऐसा पढ़ा हुआ बहुत काल तक याद रहता है और रात

का पढ़ा हुआ जल्दी भूल जाता है। विद्यार्थियों को इस विषय में विचार करना चाहिए।

तुम्हें पढ़ाई में और अधिक प्रयास करना चाहिए, एकाग्रता से ध्यान लगाकर अध्ययन करना चाहिए और फल के विषय में बहुत चिन्ता नहीं करनी चाहिए। फल चाहे जैसा हो, पर तुम्हारी पढ़ाई ठीक होनी चाहिए। विद्यार्थी यदि मुझसे पूछते हैं कि हमें कितना पढ़ना चाहिए तब मैं तो यही कहता हूँ, इतना पढ़ो कि दूसरों को पढ़ा सको। यदि दूसरे को पढ़ा सकते हो तो तुम्हारे अधिक नम्बर आएँ चाहे न आएँ, तुमने ठीक पढ़ा है।

*****

जिज्ञासा :- भगवन्! कई बार मेरी गलती न होने पर भी लोग मुझे गलत समझते हैं। ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए?

समाधान :- प्राणी अल्पज्ञ होता है, दूसरे के मन की बात नहीं जानता। इसलिए वह दूसरों के व्यवहार के विषय में अनुमान ही करता है, अनुमान कभी सही हो सकता है तो कभी गलत भी। व्यक्ति दूसरे के मन को तो समझ नहीं सकता, इसलिए बहुत बार भ्रान्ति हो जाती है। तुम्हें दो बातें समझनी चाहिए - पहली यह कि यदि तुम्हारी गलती नहीं है तब भगवान् तो ठीक ही समझेगा, जगत् चाहे कुछ भी समझे। भगवान् के सामने ठीक हो तो वस्तुतः तुम ठीक हो।

दूसरी बात यह है कि जगत् का व्यवहार इस बात पर चलता है कि तुम प्रदर्शन कितना अच्छा कर सकते हो। अपने व्यवहार को दूसरे के सामने कितना अच्छा दिखा सकते हो। तुम कितना अच्छा दूसरे के सामने अपने को दिखाते हो इसकी परमार्थ के लिए भले ही कोई जरूरत नहीं, परन्तु व्यवहार के लिए यह आवश्यक है। तुम्हें यह सोचना चाहिए कि लोगों को हमारे

विषय में गलतफहमी क्यों हो जाती है, दूसरा व्यक्ति जैसा हमारा व्यवहार देखना चाहता है वैसा हम क्यों नहीं दिखा पाते। इस दोष को दूर करने के लिए दो दृष्टियों से विचार करना चाहिए - एक तो समझना चाहिए कि हम ईश्वर के सामने सच्चे हैं तो हमारा कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। दूसरा, व्यवहार में हम जितना अच्छा प्रदर्शन करेंगे, उतना अधिक हमारा प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा। व्यावहारिक व्यक्ति को थोड़ा-सा प्रदर्शन करना भी सीखना पड़ता है। इन दोनों दृष्टियों को व्यावहारिक व्यक्ति को जान लेना चाहिए।

*****

जिज्ञासा :- कई लोग भगवान् की आज्ञा मानते हैं पर उनका आदर नहीं करते और कई लोग भगवान् का आदर तो खूब करते हैं, पर उनकी आज्ञा नहीं मानते। ऐसा क्यों होता है और इनमें से कौन-सी बात ठीक है?

समाधान :- ऐसा इसलिए होता है कि हर व्यक्ति में अपना-अपना संस्कार रहता है। कोई व्यक्ति रोज मन्दिर जाता है, फूल-माला चढ़ाता है, खूब पूजा करता है, यज्ञ-दान भी करता है, परन्तु भगवान् की आज्ञा शास्त्र है, उसे नहीं मानता है। शास्त्र कहता है झूठ नहीं बोलना पर झूठ तो बोलता ही रहता है। ऐसा व्यक्ति पूजापाठ के द्वारा जगत् को ही चाहता है। जो जगत् को ही चाहेगा वह शास्त्राज्ञा का पालन ठीक से नहीं कर पाएगा।

दूसरी ओर, ऐसे भी लोग होते हैं जो बहुत पूजापाठ तो नहीं करते, परन्तु शास्त्र के अनुसार अपना जीवन चलाते हैं। जिसे परमार्थ मार्ग पर चलना है वही ऐसा कर पाता है। उसके जीवन में और कोई स्वार्थ नहीं है, वह भगवान् को ही चाहता है, इसलिए उनकी आज्ञा जो शास्त्र है उसके अनुसार ही चलता है। ऐसा व्यक्ति ही भगवान् को प्रिय होता है।

अपने पूज्य महाराजजी को एक बार पीठ में दर्द हो गया था। उन्होंने

सेवकों से कहा हमारी पीठ पर थोड़ा पाँव से दबा दो, तो सब बोले हम आपके ऊपर पाँव कैसे रख सकते हैं, यह काम हमसे नहीं हो सकेगा। उसी समय उज्जैन के एक शर्माजी वहाँ थे। जब महाराज ने उनसे कहा तो उन्होंने पीठ को पाँव से दबा दिया। तब महाराजजी ने कहा, 'देखो, तुमने तो हमारी पीठ पर लात रखी, उससे हमारा दर्द ठीक हो गया। जिनसे हमने पहले कहा था उन्होंने पीठ पर लात तो नहीं रखी, पर हमारी जीभ पर लात रख दी।' तात्पर्य यही है कि गुरु या भगवान् की आज्ञा को मानना ही मुख्य है।

*****

जिज्ञासा :- आधुनिक युग में भी आचार्य लोग ग्रन्थों में कहे गए उन्हीं पुराने नियमों को बताते रहते हैं। क्या समय के अनुसार उनमें कुछ बदलाव करना उचित नहीं है?

समाधान :- आपसे पूछा जाए कि नए नियम बनाने के लिए किसको नियुक्त किया जाए तो क्या आप बतला सकते हैं? धर्म के विषय में जो भी नया नियम बनाएगा उसे सर्वप्रथम सर्वज्ञ होना अनिवार्य है अन्यथा संशयरहित होकर कैसे कहेगा कि इस कर्म का फल यह है, तो उस कर्म का फल वह! हमारे शास्त्र ऋषियों की हजारों वर्ष की तपस्या का अनुभव है या फिर स्वयं भगवान् का आदेश। इसलिए उनमें बदलाव करना बुद्धिमत्ता नहीं है। जितना जो पालन कर सकता है, उतना करे, उसी में कल्याण है। भगवान् ने गीता में कहा है -

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ... (२.४०)

स्वधर्म का थोड़ा-सा पालन भी बड़े-से-बड़े भय से रक्षा करता है।

*****

जिज्ञासा :- आजकल भारत में बड़े-बड़े यज्ञों का आयोजन किया

जाता है। यज्ञ-हवन में जलाकर नष्ट करने की अपेक्षा क्या वह अन्न किसी गरीब को देना उचित नहीं है?

समाधान :- गरीबों को अन्न देना है तो यज्ञ-हवन के अन्न की कटौती करके क्यों देते हो? अपने लौकिक फिजूलखर्च को कम करके क्यों नहीं देते! एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यज्ञ-हवन इत्यादि में अन्न नष्ट नहीं होता है, बल्कि वह उस अधिष्ठातृ देवता को प्राप्त होता है जिसके निमित्त हम यज्ञ करते हैं। वह देवता प्रसन्न होकर वर्षा इत्यादि के द्वारा समाज का कल्याण करता है। इसलिए उस अन्न को नष्ट हुआ समझकर भ्रम में न पड़ें तो अच्छा ही है।

*****

जिज्ञासा :- सुनते हैं पहले सिद्ध पुरुष और देवता लोग साधारण व्यक्तियों को भी दर्शन देते थे, पर आजकल ऐसा नहीं होता। इसमें हेतु क्या है?

समाधान :- पहले साधारण लोगों का भी आचार-विचार मर्यादित होता था। चाहे वे साधक हों या न हों, उनका आचार-विचार शास्त्र-नियन्त्रित ही होता था। आजकल के लोगों ने तो शास्त्रीय मर्यादा को त्याग दिया है। इसलिए सिद्ध, देवता इत्यादि उनके सामने ही नहीं आते हैं। आजकल के मनुष्य से तो लगता है सिद्ध लोग डरते हैं। जैसे कोई पागल या शराबी जिस रास्ते से जाता है तो सज्जन व्यक्ति दूर से ही अपना रास्ता बदल देता है। लगता है सिद्ध लोग भी आजकल के मनुष्यों को देखकर ऐसा ही करते हैं, तो दर्शन कैसे देंगे! यदि कोई शास्त्रीय आचार-विचारवाला व्यक्ति है तो उसे वर्तमान समय में भी सिद्ध या देवता लोग दर्शन देते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है।

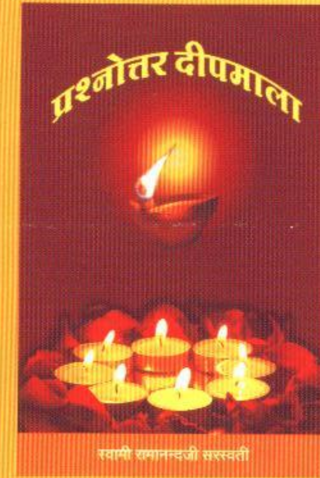
*****

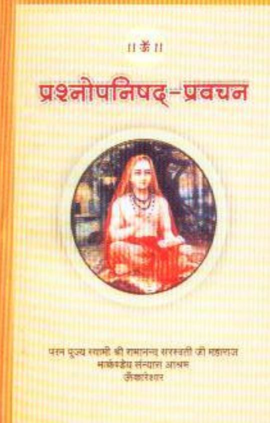
प.पू. स्वामी रामानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा किए गए स्वाध्याय एवं प्रवचनों की पुस्तक एवं सी.डी. की सूची

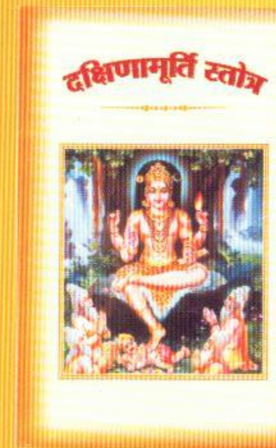
क्र.	विषय	संख्या	मूल्य रु.
१	प्रश्नोपनिषद् प्रवचन	१	३५
२	दक्षिणामूर्तिस्तोत्र प्रवचन	१	३५
३	अमृतवचन	१	३०
४	भावकुसुमाञ्जलिः	१	२०
५	शिवमहिम्नःस्तोत्रम् एवं नर्मदा महिमा	१	३०
६	प्रश्नोत्तरदीपमाला (भाग-१)	१	५०
७	दक्षिणामूर्तिस्तोत्र प्रवचन (अंग्रेजी)	१	४०
	......**प्रवचन** MP3 एवं VCD......		
८	गीता प्रवचन	३	६०
९	गीता विचार	३	६०
१०	दक्षिणामूर्तिस्तोत्र	१	२०
११	शिवमहिम्नःस्तोत्र	१	२०
१२	अमृतवचन	१	२०
१३	मुण्डक प्रवचन	१	२०
१४	माण्डूक्य प्रवचन	१	२०
१५	बाराबंकी के प्रवचन	३	६०
१६	मार्कण्डेयपुराण प्रवचन	३	६०
	......**प्रस्थानत्रय स्वाध्याय** MP3......		
१७	गीता शांकरभाष्य	३४	६८०
१८	ईशावास्योपनिषद् भाष्य	१	२०
१९	केनोपनिषद् भाष्य	३	६०
२०	कठोपनिषद् भाष्य	३	६०
२१	प्रश्नोपनिषद् भाष्य	३	६०
२२	माण्डूक्योपनिषद् भाष्य	९	१८०
२३	तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य	८	१६०
२४	ऐतरेयोपनिषद् भाष्य	८	१६०
२५	छान्दोग्योपनिषद् भाष्य	२०	४००
२६	बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य	१२	२४०
२७	ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	१६	३२०

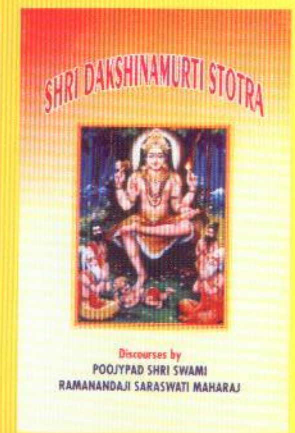
	......आगम स्वाध्याय MP3......		
२८	भावनोपनिषद्	१	२०
२९	सुभगोदयस्तोत्र	३	६०
३०	स्पन्दकारिका	३	६०
३१	शिवसूत्र	३	६०
३२	तन्त्रसार	२	४०
३३	परमार्थसार	२	४०
३४	विज्ञानभैरव	२	४०
३५	परात्रिंशिका	१	२०
	......अन्य ग्रन्थों की MP3......		
३६	विवेकचूड़ामणि	५	१००
३७	पातञ्जलयोगसूत्र	५	१००
	......प्रश्नोत्तरी MP3 एवं VCD......		
३८	प्रश्नोत्तरी ओंकारेश्वर	२५	५००
३९	प्रश्नोत्तरी सुन्दरनगर	३	६०
४०	प्रश्नोत्तरी मानसा	४	८०
४१	प्रश्नोत्तरी हरिद्वार	५	१००
४२	प्रश्नोत्तरी हरिद्वार (VCD)	३	६०
४३	प्रश्नोत्तरी उल्लासनगर (VDVD)	४	२००
	......अन्य (VCD)......		
४४	षोडशी भण्डारा (ब्रह्मलीन पू.महाराजश्री)	२	४०
४५	महाप्रयाण यात्रा (ब्रह्मलीन पू.महाराजश्री)	१	२०
	......MP3 एवं VCD(पू. स्वा.कृष्णानन्दजी)		
४६	वेदस्तुति	१	२०
४७	देवीमाहात्म्य	१	२०
४८	महाप्रयाण यात्रा (VCD)	१	२०

हमारे अन्य प्रकाशन

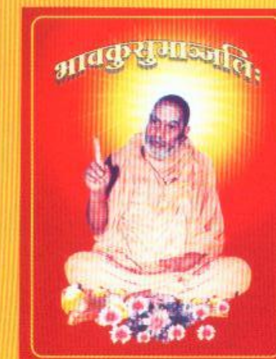














ये सारे सम्बन्ध व्यावहारिक हैं पारमार्थिक नहीं हैं। पिछले जन्म के न पिता याद हैं, न माता, न बन्धु। इसलिए जो आज हैं ये भी याद नहीं रहेंगे। जब तक शरीर है तभी तक यह सम्बन्ध का व्यवहार रहता है। परन्तु परमेश्वर से आपका सम्बन्ध नित्य है। पिछले जन्म में जो परमेश्वर आपका श्वास चला रहा था वही इस जन्म में श्वास चला रहा है, जिसने पिछले जन्म में आपको आँख, कान, नाक दिए उसी ने इस जन्म में दिए हैं। इसलिए परमेश्वर से आपका सम्बन्ध नित्य है और माता-पितादि से व्यावहारिक। अतः परमेश्वर ही हमारा मुख्य सम्बन्धी है।

इसी पुस्तक से (पृष्ठ- १६६)



मार्कण्डेय संन्यास आश्रम पब्लिक ट्रस्ट, ओंकारेश्वर